श्रीदेवसेनाचार्यविरचित

तत्त्वसार

(श्री कमलकीर्त्तिकृत संस्कृतटीका, श्री पं० पन्नालालजी चौधरी कृत भाषावचनिका, पंडितप्रवर द्यानतरायजीकृत हिन्दीपद्यानुवाद तथा गुर्जरभाषानुवादसहित)

अनुवादक एवं सम्पादक
पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री, साढूमल

प्रकाशक
श्री सत्श्रुतसेवा-साधना केन्द्र
अहमदाबाद

प्रकाशक   चंदुलाल छोटालाल महेता, प्रमुख-
श्री सत्श्रुतसेवा-साधना केन्द्र,
पुष्पविला, मीठाखली, महाराष्ट्र सोसायटी,
अहमदाबाद-३८०००६

प्रथम संस्करण   १५०० प्रतियाँ
वीर नि० सं० २५०७   वि० सं० २०३७   ई० सन् १९८१

मूल्य   पन्द्रह रुपये

प्राप्तिस्थान
गुजरात ट्यूब एण्ड सेनिटरी स्टोर्स
खाडिया चार रस्ता, अहमदाबाद-३८०००१

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशकीय निवेदन

श्री सत्श्रुत-सेवा-साधना केन्द्र, अहमदाबादकी ओरसे यह 'तत्त्वसार' ग्रन्थ प्रकाशित करके अभ्यासी और स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षुओकी सेवामे प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नताका अनुभव करते है। हिन्दी भाषामे इस सस्थाकी ओरसे यह प्रथम प्रकाशन है, इसलिये हिन्दीभाषी समाजको सस्थाका सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते है।

सस्थाका परिचय और उद्देश्य

भगवान् महावीरके उदार और अनेकान्तयुक्त उपदेशको उनके बाद अनेक आचार्योने और साधु-सन्तोने अपनी-अपनी पद्धतिसे लिपिबद्ध किया और आजतक उस निर्मल परमपावनी ज्ञान-गगामे डुबकी लगाकर अनेकोने अपने जीवनको उन्नत और समृद्ध बनाया। गत शताब्दीमे, पश्चिम भारतमे अपने विशिष्ट ज्ञान और साधनामय जीवनसे श्रीमद् राजचन्द्रजीने एक आध्यात्मिक वायुमण्डलका निर्माण किया, जिसके फलस्वरूप महात्मा गाधीने सत्य और अहिंसाके सिद्धान्तको अपने जीवनमे अग्रिम स्थान दिया। श्रीमद्जीने अनन्य शिष्य श्री लघुराजस्वामीसे प्रभावित ब्र० श्री सीतलप्रसादजोने जैनशासनकी अनेकविध सेवा की और अनेक ग्रन्थोके साथ 'सहज सुख-साधन' ग्रन्थका निर्माण भी किया। श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा सस्थापित 'परमश्रुत-प्रभावक मण्डल'ने जैनाचार्योके अनेक उत्तम ग्रन्थोको प्रकाशित करके जैन साहित्य और भारतीय वाड्मयको विशिष्ट सेवा की और अब भी वह कार्य श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासकी ओरसे चल ही रहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रजीकी विशाल, बिनसाम्प्रदायिक विशिष्ट अनुभवपूत आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रेरणा लेकर अहमदाबादमे सन् १९७५ मे इस सस्थाका शुभारम्भ हुआ, जिसके मुख्य प्रयोजक डॉ० मुकुन्द सोनेजी है। अबतक सस्थाकी ओरसे आठ पुस्तकोका प्रकाशन हुआ है जो सभी गुजराती भाषामे है, जिनके नाम अन्यत्र दिये गये है।

आध्यात्मिक दृष्टिको मुख्य रखते हुए तत्त्वज्ञान, साधनापथ, इतिहास, योगसाधना, भक्ति-मार्ग, नीतिशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र आदि भारतीय सस्कृतिके अगभूत विविध विषयोपर लिखे गये प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यको प्रगट करना सस्थाका मुख्य उद्देश्य है। समाजको उन्नतिकी ओर ले जानेवाले हर प्रकारके सस्कारपूर्ण साहित्यको पुस्तकालयोके माध्यमसे समाजकी सेवामे रखना, और युवावर्गकी रुचि सत्साहित्यकी ओर बढे ऐसी व्यवस्था करना भी सस्थाका एक उद्देश्य रहा है, जिसके भागरूप एक पुस्तकालयकी स्थापना अहमदावादमे की गई है।

इसके अतिरिक्त स्वाध्याय-शिविरो, प्रवचनमालाओ और तीर्थयात्राओका आयोजन करके समाजमे आध्यात्मिक सस्कारोका निर्माण करना, यह भी एक खास प्रयोजन सस्थाने अपने सामने रक्खा है। जिसमे अभी तक ६ वडी यात्राओका आयोजन किया गया, जिसका लाभ एक हजारसे अधिक यात्रियोने लिया है। यात्राके दौरान भारतके सभी मुख्य जैन तीर्थोकी वन्दनाका लाभ मुमुक्षुओको मिला है। अभीतकके शिविरोका आयोजन गुजरात तक सीमित रहा है, परन्तु स्वाध्याय-सत्सगकी आराधना गुजरातसे वाहर वम्वई, कलकत्ता, कुम्भोज-वाहुवली, मद्रास,

टाटानगर, इन्दौर, देवलाली, बैंगलोर, हम्पी (विजयनगर), हैदराबाद, कारजा आदि स्थानोपर हुई है। संस्था, गच्छ-मत-सम्प्रदायकी सकीर्णतामे उलझे बिना वीतराग महर्पियोके स्वपर-कल्याणकारी उपदेशको जनता तक पहुँचानेमे प्रयत्नशील है।

प्रस्तुत प्रकाशन

श्रीमद् राजचन्द्रजीने 'उपदेश नोध-१५ पृ० ६६९' पर 'श्रीसत्श्रुत'—शीर्षकके अन्तर्गत अनेक ग्रन्थोका उल्लेख किया है, और उन ग्रन्थोका इन्द्रियनिग्रहपूर्वक अभ्यास करनेकी प्रेरणा दी है। उपरोक्त स्थानपर निर्दिष्ट प्राय सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है, और यह 'तत्त्वसार' ग्रन्थ भी सन् १९३७ मे स्व० जैनधर्मभूषण ब्र० सीतलप्रसादजीकृत सक्षिप्त हिन्दी टीका सहित दि० जैन पुस्तकालय, सूरतकी ओरसे प्रगट हुआ था, परन्तु वर्तमानमे कही भी उपलब्ध नही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक अति उत्तम आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमे जैन दृष्टिसे तत्त्वोका सक्षिप्त स्वरूप बताकर समस्त साधकोको परम उपकारी ऐसे आत्मज्ञान और ध्यानमार्गकी आराधनाकी प्रेरणा व शिक्ष दी गई है। सभी अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षुओके लिए यह ग्रन्थ स्वाध्याय-ध्यान-तत्त्वाभ्यासमे अत्यन्त उपकारी जानकर और वर्तमानमे अनुपलब्ध होनेसे इसका प्रकाशन किया गया है।

जैन समाजके लब्धप्रतिष्ठ मूर्धन्य विद्वान् श्रीमान् प० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीसे सस्थाकी ग्रन्थ-प्रकाशन-समितिके सदस्योकी भेंट कुभोज—बाहुबली एव थुबौनजी तीर्थोमे हुई और समितिने अपना सुझाव पडितजीके समक्ष रक्खा। उन्होने इस सम्बन्धमे अनुकूल प्रत्युत्तर दिया और बहुत सहज भावसे ग्रन्थके सम्पादनका कार्य सभालनेकी स्वीकृति दे दी। मात्र पाँच-छह महीनोमे ही उन्होने इस कठिन ग्रन्थका जिस प्रकार सुचारुरुपसे और वैज्ञानिक ढगसे सम्पादन कर दिया है, इससे पाठकवर्गको उनके श्रुतप्रेम, कर्त्तव्यनिष्ठा और विशाल अध्ययनकी सहजमे प्रतीति हो जाती है। आपके सर्वांगीण सहयोगके लिए हम आपका अत्यन्त आभार प्रगट करते हैं, और हमे आशा ही नही, किन्तु विश्वास है कि आप जिनवाणीकी अविरल सेवा करके स्वपर-कल्याणमे लगे रहेगे एव अन्य नूतन पडित-समाजको भी श्रुतसेवाकी प्रेरणा देते रहेगे।

इस प्रकाशनके प्रूफरीडिंग आदिका सब कार्य श्रीमान् पडित बाबूलाल सिद्धसेन जैन, अहमदाबाद वालोने सत्श्रुतभक्तिसे प्रेरित होकर किया है। इस विशिष्ट सहयोगके लिए हम उनके आभारी हैं।

ग्रन्थका सुन्दर और सावधानीपूर्वक मुद्रणका कार्य श्री बाबूलालजी फागुल्ल, महावीर प्रेस, वाराणसीने तत्परतासे किया है, अत वे धन्यवादके पात्र हैं।

अन्तमे, अभ्यासी और साधकसमुदाय इस उत्तम ग्रन्थका अध्ययन अध्यापन करके स्वपर-कल्याणमे लगेंगे ऐसी भावनासहित,

अध्यात्मसाधकोकी सेवामे तत्पर
ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
श्री सत्श्रुत सेवा-साधना केन्द्र

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन शास्त्रोमे जहाँ कही भी ध्यानका वर्णन किया गया है, वहाँ सर्वत्र ध्यानकी सिद्धिके लिए कहा गया है कि साधक इष्ट प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित न हो और अप्रिय वस्तुको पाकर उद्विग्न न हो, किन्तु दोनोमे समानरूपसे स्थिर बुद्धि रहे, परमे मोहित न हो, आत्मस्वरूपमे स्थित रहे[1]। इन्द्रियोका विजेता हो, सर्व प्राणियो पर अपने समान बुद्धि रखें। प्रशान्त चित्त हो, परमात्मामे समाहित बुद्धि हो, शीत-उष्ण, सुख दु ख और मान-अपमानमे समान भाव रखने वाला हो[2]। मित्र और शत्रुमे उदासीन हो, बन्धु और द्वेष रखने वालो पर मध्यस्थ हो, साधुजनोमे और पापी पुरुषोमे तथा स्वर्ण और पाषाणमे भी समान बुद्धि रखने वाला हो। आशा-तृष्णासे रहित हो, अपरिग्रही हो, और सावधान चित्त हो, ऐसा योगी ही एकान्तमे एकाकी बैठकर अपने आत्मामे अपने आपको सलग्न करे[3]।

ध्यानकी सिद्धि घरके व्यापारोमे सलग्न आरम्भी और परिग्रही गृहस्थके सम्भव नही है। गृहस्थ ध्यान करनेके लिए जब भी आँख बन्द करके बैठता है, तभी घरके व्यापार उसके सम्मुख आकर खडे हो जाते हैं[4]। चचल मनको वशमे करना गृहस्थके लिए शक्य नही है। यही कारण है कि चित्तकी चचलता शान्त करनेके लिए सत्पुरुषोने पूर्व कालमे घरके निवासका त्याग किया है। कदाचित् आकाश-कुसुम और खर-शृगका होना सम्भव है किन्तु किसी भी देश या कालमे गृहस्थाश्रमके भीतर रहते हुए ध्यानकी सिद्धि सम्भव नही है[5]।

यही कारण है कि आ० देवसेनने भावसग्रहमे पचम गुणस्थानका वर्णन करते हुए जहाँ गृहस्थके ध्यानका निषेध किया है, वहाँ छठे गुणस्थानवर्ती साधुके उपचार रूपसे धर्मध्यानका

---

१ न हृष्येत्प्रिय प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिर बुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित ॥ (गीता० ५,२०)

२ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गीता० ५,७)

३ सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो।
शीतोष्ण-सुखदु खेषु सम सगविवर्जित ॥ (गीता० १२,१८)
समदु खसुख स्वस्थ समलोष्टाश्मकाञ्चन।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसस्तुति ॥ (गीता० १४,२४)
योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थित।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥ (गीता० ६,१०)

४ घर-वावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठन्ति णिमीलियच्छिस्स ॥ (भावसग्रह० ३८५)

५ शक्यते न वशीकर्तु गृहिभिश्चपल मन।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थ सद्भिस्त्यक्ता गृहस्थिति ॥ (ज्ञानार्णव० ४,१०)
खपुष्पमथवा शृङ्ग खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देश-कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ (ज्ञानार्णव० ४,१७)

और सातवें गुणस्थानवर्ती साधुके मुख्यरूपसे धर्मध्यानका विधान किया है। आगेके गुणस्थानोमे तो शुक्लध्यान ही होता है।

प्रस्तुत तत्त्वसारमे आदिसे लेकर अन्त तक आरम्भ और परिग्रहसे रहित साधुको और उसमे भी ध्यान करने वाले योगीको लक्ष्यमे रखकर ही ध्यानका वर्णन किया गया है। आचार्य देवसेनका स्पष्ट कथन है कि मुख्य धर्मध्यान तो प्रमाद-रहित सप्तम गुणस्थानमे ही होता है। पाँचवें और छठे गुणस्थानमे तो वह उपचारसे ही जानना चाहिए[1]। इसका कारण यह है कि पाँचवें गुणस्थान तक आर्त और रौद्र ध्यान होते है और छठे गुणस्थानमे आर्तध्यानके साथ पन्द्रह प्रकारका प्रमाद भी पाया जाता है। जब इनमे दोनोकी परिणति रहेगी, तब धर्मध्यान कहाँ सम्भव है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि मिथ्यात्वीके अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमे आर्त रौद्र-ध्यान और प्रमाद तीव्र होगे। अविरतसम्यक्त्वीके अनन्तानुबन्धी के उदयके अभावमे और शेष तीन कषायोके उदयमे उससे मन्द होगे। देशव्रतीके शेष दो कषायोके उदयमे और भी मन्द आर्त-रौद्रध्यान एव प्रमाद होगे। जहाँ जिस समय कषायोका जितना मन्द उदय होगा, वहाँ उस समय सक्लेशकी हानि और विशुद्धिकी वृद्धिसे धर्मध्यान होना सम्भव है, यही कारण कारण है कि पूज्यपाद आदि आचार्योंने चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा है[2]। किन्तु उसे आचार्य देवसेनने धर्मध्यान न कह कर भद्रध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि जितने समय तक कषायकी मन्दतासे परिणामोमे विशुद्धि बनी रहती है, उतने समय तक तो धर्मध्यान रहता है, किन्तु कषायोके उदयकी तीव्रता होते ही उसकी प्रवृत्ति पुन भोग-सेवनकी हो जाती है और प्रमत्त सयतकी प्रवृत्ति प्रमाद रूपसे परिणत हो जाती है। आचार्य देवसेनने भद्रध्यानका लक्षण ही यह कहा है[3]।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि छठे और सातवें गुणस्थानका काल केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इससे अधिक काल तक साधु न छठे गुणस्थानमे रह सकता है और न सातवे गुणस्थान मे। जैसे आंख खुलती और बन्द होती रहती है, अथवा श्वास आती और जाती रहती है, उसी प्रकार साधु छठेसे सातवेंमे और सातवेंसे छठे गुणस्थानमे आता जाता रहता है। दूसरे शब्दोमे यह कहा जा सकता है कि भावलिंगी सयमी साधुकी प्रवृत्ति अन्तर्मुहूर्तसे अधिक न प्रमाद-युक्त ही रहती है और न प्रमाद-रहित ही रह सकती है। इसी कारणसे प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका उत्कृष्ट भी काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है[4]। छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती सयत ससारमे सदा ही पाये जाते हैं, अत उनकी अपेक्षा दोनो गुणस्थानोका सर्वकाल कहा गया है।

---

१ मुक्ख धम्मज्झाण उत्त तु पमायविरहए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्व ॥ (भावसग्रह गा० ३७१)

२ तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयताना भवति। (सर्वार्थसिद्धि० अ० ९ सू० ३६ टीका)

३ भद्दस्स लक्खण पुण धम्म चिन्तेइ भोयपरिमुक्को।
चिन्तिय धम्म सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥ (भावसग्रह० गा० ३६५)

४ पमत्त-अप्पमत्तसजदा केवचिर कालादो होंति ? णाणाजीव पडुच्च सव्वद्धा ।१९। एगजीव पडुच्च जहण्णेण एगसमय ।२०। उक्कस्सेण अन्तोमुहुत्त ।२१। (छक्खडागम, कालानुयोगद्वार, पुस्तक ५ पृ० ३५०-३५१) प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया सर्व काल। एक जीव प्रति जघन्येनैक समय। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त। (सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० ८)

तत्त्वसार का सार

आचार्य देवसेनने पच परमेष्ठीरूप परगत तत्त्वके ध्यानको साक्षात् तो पुण्यका कारण और परम्परासे मोक्षका कारण कहा हैं। (देखो गाथा ४) उन्होने आत्म-चिन्तन रूप स्वगत तत्त्वके भी दो भेद किये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। इनमे सविकल्प तत्त्वको विकल्प युक्त होनेके कारण सास्रव अर्थात् कर्मोके आस्रवसे युक्त कहा है और निर्विकल्प तत्त्वको सकल्प विकल्पो से रहित होनेके कारण निरास्रव अर्थात् कर्मोके आस्रवसे रहित कहा है। (गाथा ५) यहाँ यह ज्ञातव्य है कि टीकाकारने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य आराधकको आदि लेकर तारतम्यके क्रमसे दशम गुणस्थानवर्ती सूक्ष्मसाम्यराय सयत तक सविकल्प आत्म-चिन्तन होता है, अत वह मोहकर्मके सद्भाव बने रहने तक सास्रव है। ग्यारहवें गुणस्थानमे मोहकर्मका उपशम होनेसे तथा बारहवें गुणस्थानमे मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके कारण यहाँ निर्विकल्प रूप जो आत्मध्यान है, वह निरास्रव है। केवल एक सातावेदनीय प्रकृतिका आस्रव होता है, सो वह एक समयकी स्थिति वाला है अत आनेके साथ ही निर्जीर्ण हो जानेसे आस्रवमे गिना नही गया है।

निर्विकल्प ध्यानके लिए इन्द्रियोका अपने विषयोसे विराम लेना सबसे पहिले आवश्यक है। जब इन्द्रियोकी विषय-प्रवृत्ति रुकेगी, तब मनकी चचलता रुकेगी और मनकी चचलता रुकने से सर्व प्रकारके सकल्प विकल्प रुकेंगे। सकल्प-विकल्पोके नष्ट होने पर ही निर्विकल्प निश्चल स्थायी शुद्ध स्वभाव प्रकट होगा। (गाथा ६-७) यह सम्पूर्ण ग्रन्थका अर्थात् तत्त्वसारका सार है।

आत्माके उस निर्विकल्प रूप शुद्ध स्वभावका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है और उसे ही शुद्ध चेतना भी कहा जाता है। (गाथा ८) वह निर्विकल्प तत्त्व ही सार है और वही मोक्षका कारण है। यह जानकर ध्याता पुरुषको निर्ग्रन्थ होकर उस विशुद्ध तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। (गाथा ९)

निर्ग्रन्थ किसे कहते है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य देवसेन कहते है कि जिसने मन, वचन, कायमे बाहिरी और भीतरी सब प्रकारके ग्रन्थ (परिग्रह) का त्याग कर नग्न दिगम्बर रूप जिनलिंग धारण कर लिया है ऐसे श्रमणको निर्ग्रन्थ कहते है। बाहिरी परिग्रह दश प्रकार का है—१ क्षेत्र (खेत), २ वास्तु (मकान), ३ हिरण्य (चाँदी), ४ सुवर्ण (सोना), ५ धन (गाय-भैंस आदि), ६ धान्य (गेहूँ आदि अन्न), ७ दासी (नौकरानी), ८ दास (नौकर-चाकर), ९ कुप्य (वस्त्र) और १० भाँड (बर्तनादि)। अन्तरग परिग्रह चौदह प्रकारका कहा गया है—१ मिथ्यात्व, २ क्रोध, ३ मान, ४ माया, ५ लोभकषाय, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ शोक, १० भय, ११ जुगुप्सा, १२ स्त्री वेद, १३ पुरुष वेद और १४ नपुसक वेद। इन बहिरग और अन्तरग रूप चौबीस प्रकारके परिग्रहका त्रियोगसे त्याग करने पर ही निर्ग्रन्थ सज्ञा प्राप्त होती है। (गाथा १०)

निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर लेनेके पश्चात् भी ध्यान करने वाले योगीको भिक्षा, वसतिका आदिके लाभ या अलाभमे, सुख-दु खमे, जीवन-मरणमे और शत्रु-मित्रमे समान बुद्धि रखना आवश्यक है, तभी वह ध्यान करनेमे समर्थ हो सकता है, अन्यथा नही। (गाथा ११)

आगे आचार्य देवसेन कहते है कि यदि तुम शाश्वत मोक्ष सुखकी इच्छा करते हो तो परमें राग, द्वेष, मोहका त्याग कर सदा ध्यानका अभ्यास करो और अपनी शुद्ध आत्माको ध्याओ। (गाथा १६)

आत्मा कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तरमें बताया गया है कि निश्चय नयसे आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणोसे युक्त है, असख्यात प्रदेशी है, अमूर्त है, वर्तमानमे गृहीत शरीर-प्रमाण है, निरजन है, क्रोधादिसे रहित है, शल्य और लेश्याओसे रहित है, रूप-रसादिसे रहित है, कर्मोंके वन्ध, उदयादि स्थानोसे रहित है, मार्गणा, जीवसमास और गुणस्थानोसे भी रहित है। (गाथा १७-२१) किन्तु व्यवहार नयसे कर्म-नोकर्मादि जनित उक्त विभावोसे युक्त भी है। (गाथा २२)

जीव और कर्मका सयोग दूध-पानीके मिलापके समान है। दोनो एकमेक होकर भी अपने-अपने स्वभावसे युक्त रहते है। उन्हे जैसे विधि-विशेषसे भिन्न-भिन्न कर दिया जाता है उसी प्रकार ध्यानके योगसे जीव और कर्मके सयोगको भी ज्ञानी पुरुष भिन्न-भिन्न कर सकता है। (गाथा २३-२४) अत उन्हे भिन्न-भिन्न करके सिद्धके समान अपने शुद्ध परमब्रह्मस्वभावरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिए। (गाथा २५)

उस शुद्ध परम ब्रह्मका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि कर्म-मलसे रहित, ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा जैसा सिद्धालयमे निवास करता है, वैसा ही इस देहमे स्थित परम ब्रह्मरूप आत्माको जानना चाहिए। वह कर्म-नोकर्म से रहित है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणोसे समृद्ध है, नित्य है, एक है, निरालम्ब है, असख्यात प्रदेशी और अमूर्त है (गाथा २६-२८)

उक्त स्वरूपवाले परम ब्रह्मकी प्राप्ति मनके सकल्प रुक जानेपर और इन्द्रियोके विषय-व्यापार बन्द हो जानेपर ध्यानके द्वारा होती है। (गाथा २९) मनका सचार ज्यो-ज्यो रुकता है और इन्द्रियोके विषय ज्यो-ज्यो शान्त होते हैं, त्यो-त्यो आत्माका परम ब्रह्मरूप स्वभाव प्रकट होता जाता है। जैसे सूर्य ज्यो-ज्यो मेघ-पटलसे रहित होता हुआ उत्तरोत्तर प्रकाशमान होता जाता है और मेघ-पटलसे सर्वथा रहित होने पर पूर्ण रूपसे प्रकाशमान हो जाता है। इसी प्रकार कर्म-पटलके दूर होनेपर आत्माका शुद्ध स्वभाव भी पूर्णरूपसे प्रकट हो जाता है। इसके लिए मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका निर्विकार होना परम आवश्यक है। (गाथा ३०-३१) मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रुकनेपर नवीन कर्मोका आस्रव भी रुक जाता है और पूर्व-वद्ध कर्मोकी निर्जरा भी होती है। (गाथा ३२)।

जवतक मन पर-द्रव्योमे आसक्त रहता है, तवतक उग्र तपको करता हुआ भव्य पुरुष भी मोक्षको नही पाता है। किन्तु पर-द्रव्योसे आसक्ति छोडनेपर एव निज स्वभावमे स्थिर होनेपर मोक्षकी प्राप्ति अल्प समयमे ही हो जाती है। (गाथा ३३) इसके विपरीत जवतक देहादि पर-द्रव्यमे ममत्व करता है, तवतक वह पर समय-रत है और विविध प्रकारके कर्मोसे वंधता रहता है। (गाथा ३४)।

ज्ञानी और अज्ञानीकी व्याख्या करते हुए वताया गया है कि जो पुरुष इन्द्रियोके वश होकर अनिष्ट वस्तुमे रुष्ट होता है और इष्ट वस्तुमे तुष्ट होता है, वह अज्ञानी है। जो न अनिष्ट वस्तुसे रुष्ट हो और न इष्ट वस्तुमे तुष्ट हो वह ज्ञानी है। (गाथा ३५) ज्ञानी पुरुष विचार करता है कि जो चेतना-रहित है वह तो दिखाई देता है और जो चेतना-सहित है वह दिखाई नही देता। फिर मै किससे रुष्ट होऊँ, या किससे तुष्ट होऊं ? अतएव मध्यस्थ ही रहना श्रेष्ठ है। (गाथा ३६) ज्ञानी पुरुषको त्रिभुवनवर्ती सब जीव अपने समान ही ज्ञानमय और अनन्त गुणवाले दिखाई देते है, इसलिए वह न किसीसे रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है। किन्तु मध्यस्थ ही रहता है।

(गाथा ३७-३८) इस प्रकार जो वस्तु-स्वभावको जानता है उसका मन राग, द्वेष और मोहसे डँवाडोल नही होता हैं। (गाथा ३९) जिसका मन राग-द्वेषादिसे डँवाडोल नही होता, वही आत्म-तत्त्वका दर्शन करता है। इससे विपरीत पुरुषको आत्म-दर्शन नही होता है। (गाथा ४०)।

आगे वताया गया हैं कि मनके स्थिर होनेपर ही आत्म-दर्शन होता है। जैसे कि सरोवरका जल स्थिर होनेपर उसके भीतर गिरा हुआ रत्न दिखने लगता है। (गाथा ४१) इन्द्रियोके विषयोसे विमुक्त विमल-स्वभावी आत्मतत्त्वके दर्शन होते हो क्षणमात्रमे योगीके सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। (गाथा ४२) इसलिये सभी पर-गत भावोको छोडकर अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभावकी भावना करनी चाहिये। (गाथा ४३) जो साधु स्व-सवेदन ज्ञानमे उपयुक्त होकर आत्माका ध्यान करता है, वह वीतराग और निर्मल रत्नत्रयका धारक है। (गाथा ४४) जो शुद्ध आत्माका अनुभव करता है, उसके ही निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा गया है। (गाथा ४५)

आगे कहा गया है कि यदि कोई योगी ध्यान-स्थित होकर भी अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपका अनुभव नही करता है तो वह शुद्ध आत्म-स्वरूपको नही प्राप्त कर पाता है। जैसे कि भाग्य-हीन मनुष्य रत्नको नही प्राप्त कर पाता। (गाथा ४६) शारीरिक-सुखमे आसक्त योगी नित्य ध्यान करते हुए भी शुद्ध आत्माको प्राप्त नही कर सकता, क्योकि वह अचेतन देहमे ममत्व करता है, अत वहिरात्मा है। (गाथा ४७-४८) किन्तु जो योगी शरीरके रोगोको उसके सडने-गलनेको और जन्म-मरणको देखकर उससे विरक्त होकर अपने आत्माका ध्यान करता है, वह पाँचो शरीरोसे मुक्त होकर सिद्ध हो जाता है। (गाथा ४९)

योगी साधुके आत्म-साधना करते हुए अनेक प्रकारके परीषह और उपसर्ग आते है, उस समय वह विचारता है कि उग्र तपस्यासे जो कर्म उदीरणा करके उदयमे लाकर भोगनेके योग्य थे, वे यदि स्वय ही उदयमे आ गये है, तो यह मेरे वडा लाभ है, इसमे कोई सन्देह नही है। (गाथा ५०) इस प्रकारसे जो साधु उदयागत कर्मके फलको भोगते हुए उसमे न राग करता है और न द्वेष करता है, वह नवीन कर्मका बन्ध नही करता है और सचित कर्मका विनाश करता है। (गाथा ५१) किन्तु जो कर्म-फलको भोगते हुए शुभऔर अशुभ भाव करता है, वह पुनरपि कर्मोका वन्ध करता है। (गाथा ५२)

आगे वताया गया है कि परमार्थका ज्ञाता भी साधु यदि अपने मनमे पर-वस्तुके प्रति पर-माणुमात्र भी राग रखता है तो वह कर्म-बन्धनसे नही छूटता है। (गाथा ५३) किन्तु जो सुख-दु खको सहते हुए भी परमे राग-द्वेष न करके ध्यानमे दृढचित्त रहता है, उसका तप कर्मोकी निर्जरा करता है। (गाथा ५४) क्योकि ज्ञानी अपने स्वभावको छोडता नही है और पर-भाव-रूपसे परिणमन भी नही करता है, किन्तु आत्म-स्वरूपका अनुभव करता है, अत वह कर्मोका सवर भी करता है और उनकी निर्जरा भी करता है। (गाथा ५५)

आगे कहा गया है कि जो साधु पर-भावोंसे विमुक्त होकर निश्चल चित्तसे अपने स्वभावका अनुभव करता है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है। (गाथा ५६) क्योकि निश्चयनयमे जो आत्मा है वही दर्शन है, वही ज्ञान है, वही चारित्र है और वही शुद्ध चेतना है। (गाथा ५७)

आगे वताया गया है कि राग-द्वेषके नष्ट होने पर तथा निज शुद्ध स्वरूपके उपलब्ध होनेपर योगियोके योगशक्तिसे परम आनन्द प्रकट होता है। (गाथा ५८) यदि ध्यान करते हुए भी वह

२

सुखद परम आनन्द प्रकट नही होता है तो फिर उस ध्यान या योगसे क्या करना है ? कुछ भी नही। (गाथा ५९) ध्यान-स्थित भी योगीका मन जब तक किंचित् मात्र भी चचल रहेगा। तब तक परम सुखदायक परमानन्द प्रकट नही हो सकता। (गाथा ६०) किन्तु जब मनकी चचलता रुक जाती है और सर्व सकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं, तब जो आत्माका शाश्वत स्वभाव प्रकट होता है वही मोक्षका कारण है। (गाथा ६१)

आत्म-स्वभावमे स्थित योगीको कर्मोदयसे आनेवाले भी इन्द्रियोके विषयोका भान नही होता, किन्तु उस समय वह अपनी शुद्ध आत्माको ही जानता और देखता है। (गाथा ६२) जिस योगीको आत्मस्वभावकी उपलब्धि हो जाती है, उसका मन इन्द्रियोके विषयोमे नही रमता। किन्तु निराश होकर आत्माके साथ एकमेक हो जाता है, अथवा यो कहना चाहिए कि वह ध्यान-रूपी शस्त्रसे मर जाता है। (गाथा ६३)

मन कब तक नही मरता ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए बताया गया है कि जब तक सम्पूर्ण मोहकर्मका क्षय नही होता, तब तक मन नही मरता है। किन्तु मोहकर्मका क्षय होते ही मनका मरण तो होता ही है, साथमे शेष रहे घातिया कर्मोका भी क्षय हो जाता है। (गाथा ६४) इसका कारण यह है कि मोहकर्म सब कर्मोका राजा है। युद्धमे राजाके मर जानेपर सेना जैसे स्वय गलितमान होकर भाग जाती है, उसी प्रकार मोहरूपी राजाके मरतेही शेष घातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। (गाथा ६५) चारो घातिया कर्मोके क्षय होते ही लोकालोकका प्रकाशक और तीनो कालोके सर्व द्रव्योकी गुण-पर्यायोको जानने वाला निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह योगी सयोगी-सकल परमात्मा बन जाता है। (गाथा ६६) भावसग्रह गाथा ६७३-६७४)

जबतक योगीका आयुकर्म विद्यमान रहता है तबतक वह तीर्थंकरकेवली या सामान्यकेवली की अवस्थामे भव्य जीवोको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए विहार करते रहते है। जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, तब वे योगोका निरोधकर अयोगिकेवली बन जाते है। (भावसग्रह गाथा ६७९) उस अवस्थामे वे शेष अघातिया कर्मोका क्षय करते हुए त्रिभुवन-पूज्य और लोकाग्र-निवासी सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं। (गाथा ६७)

सिद्ध जीव गमनागमनसे विमुक्त, हलन-चलनसे रहित, अव्याबाध सुखमे स्थित और पर-मार्थ गुणोंमे या परम आठ गुणोसे सयुक्त होते हैं। (गाथा ६८) उस समय वे इन्द्रियोके क्रमसे रहित होकर सम्पूर्ण लोक-अलोकको और अनन्त गुण-पर्यायोसे युक्त सर्व मूर्त-अमूर्त द्रव्योको एक साथ जानते और देखते हैं। (गाथा ६९) लोकके अग्रभागसे ऊपर धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे उनका गमन नहीं होता। अत वे अनन्तकाल तक उसी लोकाग्रपर निवास करते हैं। (गाथा ७०)

यहाँ पर किसीने यह शका की कि कर्मोसे मुक्त होते ही जीव नीचेकी ओर या तिरछे पूर्व आदि आठो दिशाओकी ओर क्यो नही जाता ? जबकि सर्वत्र धर्मद्रव्य विद्यमान है ? इसका समाधान करते हुए आ० देवसेन कहते है कि यत जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अत वह कर्म-मुक्त होते ही ऊपर जाता है। (गाथा ७१)

सिद्ध जीव पाँच प्रकारके शरीरोंसे रहित, चरम शरीरसे कुछ कम आकारवाले और आगे जन्म-मरणसे विमुक्त रहते हैं। ऐसे सर्व सिद्धोको मैं नमस्कार करता हूँ। (गाथा ७२)

इस प्रकार जैसे आ० देवसेनने सिद्धोको नमस्कारकर तत्त्वसारकी रचना प्रारम्भ की थी,

उसी प्रकार सिद्धोको नमस्कारकर तत्त्वसारको उन्होने पूर्ण किया है।

अन्तमे आ० देवसेन कहते है कि जिस स्व-परगत तत्त्वमे तल्लीन होकर जीव इस विषम ससार-सागरको पार करते है वह सर्व जीवोको शरण देनेवाला तत्त्व सदा काल कल्याणमय रहे। (गाथा ७३) जो सम्यग्दृष्टि पुरुष देवसेन मुनि-द्वारा रचित इस तत्त्वसारको सुनकर आत्मतत्त्वकी भावना करेगा, वह शाश्वत सुखको पावेगा। (गाथा ७४)

तत्त्वसारके आद्योपान्त अध्ययन करनेके पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि स्वगत तत्त्वकी उपलब्धि तो सर्व परिग्रह, आरम्भ और इन्द्रिय-विषयोसे रहित परमयोगियो—निर्ग्रन्थ साधुओको ही हो सकती है, तब आजका मुमुक्षु या आत्महितेच्छु श्रावक या जैन क्या करे ? इस प्रश्नका उत्तर आ० देवसेनने तत्त्वसारकी तीसरी गाथाके चतुर्थ चरण और चौथी गाथामे सक्षेप रूपसे सर्वप्रथम ही दे दिया है और विस्तृत उत्तर उन्होने अपने द्वारा रचित भावसग्रहके पचम गुण-स्थानके वर्णनमे दिया हे। उसका सक्षेपसे यहाँ वर्णन किया जाता है।

मुमुक्षु या आत्म हितेच्छु साधकको आर्त-रौद्रध्यानकी उग्र प्रवृत्तिको रोकनेके लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्वको धारणके साथ स्थूल हिसा, झूठ, चोरी और कुशीलका त्याग, परिग्रहका परिमाण करना, तथा मद्य, मास, मधुके सेवनका यावज्जीवनके लिए त्याग करना आवश्यक है। उक्त अशुभ कार्योके परित्यागके साथ उनकी रक्षाके लिए दिग्व्रत, देशव्रतके परिणामकर व्यर्थके सकल्प विकल्पोके त्यागके लिए अनर्थदण्डोका—जिनसे अपना कोई भी प्रयोजन नही है—ऐसे पापोपदेश, हिंसादान, प्रमादचर्या, अपध्यान सौर खोटी कथाओके सुननेका त्याग करना चाहिए।

इन अशुभ कार्योको छोडनेके पश्चात् शुभ क्रियाओमे प्रवृति करना आवश्यक है। शुभ क्रियाओमे प्रवृत्ति करनेके लिए ऐसे स्थान पर बैठना आवश्यक है कि जहाँ चित्तके विक्षेप करने वाले बालकोका, दुष्ट स्त्री, पुरुष और पशु-पक्षियोका सचार एव कोलाहल सुनाई न दे। यदि अपने घरमे यह सभव न हो तो किसी धर्मस्थान या एकान्त स्थानमे जाकर नियत कालके लिए सामयिकको स्वीकारकर बैठना चाहिए।

सामायिक स्वीकारकर सर्वप्रथम नौवार णमोकार मन्त्रका स्मरण २७ श्वासोच्छ्वासोमे करना चाहिए। अर्थात् 'णमो अरिहताण' पदका श्वास खीचते हुए, 'णमो सिद्धाण' पदका श्वास छोडते हुए स्मरण करे। इसप्रकार एक श्वासोच्छ्वासमे दो पदोका स्मरण करे। पुन श्वास खीचते हुए 'णमो आयरियाण' पदका और श्वास छोडते हुए 'णमो उवज्झायाणं' पदका स्मरण करे। तत्पश्चात् श्वास खीचते हुए 'णमो लोए' और श्वास छोडते हुए 'सव्वसाहूण' पदका स्मरण करे। इस प्रकार एकवार णमोकार मन्त्रको तीन श्वासोच्छ्वासोमे स्मरण करते हुए नौ वार णमोकारमन्त्रका मनमे स्मरण करना चाहिए। इस प्रक्रियाके करनेसे दो लाभ तत्काल प्राप्त होते है—पहिला यह कि सामायिक स्वीकार करनेके पूर्व मनमे जो आरम्भ-परिग्रह सम्बन्धी आर्त्त और रौद्रध्यानरूप सकल्प-विकल्प उठ रहे थे, उनका निरोध होता है और दूसरा लाभ पच परमेष्ठीके स्मरणरूप शुभकार्यमे प्रवृत्ति प्रारम्भ होतो है।

तत्पश्चात् कुछ देर तक पाचो परमेष्ठियोके स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनकी प्राकृत, सस्कृत या हिन्दी आदि भाषामे रचित जो स्तोत्र पाठ आदि कठस्थ हो उसे बोले, या पुस्तकके आधारसे मन्द-मन्द स्वरमे उच्चारण करे। पुन चौवीस तीर्थंकरोको स्तुति पढे। तदनन्तर प्राकृत,

संस्कृत या हिन्दी आदि भाषामे रचित सामयिक पाठ बोले। अन्तमे समाधिभक्ति और इष्ट प्रार्थना बोलते हुए कायोत्सर्गकर सामायिकका काल पूरा करे। यह एक दिशानिर्देश है। कभी-कभी बारह भावनाओंका चिन्तन करे। अनेक कवियोकी रची हुई बारह भावनाएँ प्रकाशित हो गई हैं, उनका पाठ करे। इस क्रममे प्रतिदिन नवीन-पाठ अपनी रुचिके अनुसार बोला जा सकता है।

उक्त सामायिककी साधना तीनो सन्ध्याओमे और कम-से-कम दो घडी, या एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट तक एक आसनसे स्थिर बैठ करनी चाहिए। जब सामायिकमे स्थिरता आ जावे, तब उसी सामयिकके कालको बढाकर या उक्त समयमे ही आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय रूप धर्मध्यानके चार भेदोका चिन्तन करे। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ **आज्ञाविचय**—वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवने आत्माके प्रयोजनभूत जिन जीव आदि सात तत्त्वोका निरूपण किया है, उनके स्वरूपका चिन्तन करना, मोक्षमार्ग-दर्शक शास्त्रोका स्वाध्याय करना और जिन-आज्ञाको प्रमाण मानना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। (भावसग्रह गाथा ३६७)

अपायविचय—मेरे द्वारा उपार्जित कर्म ही मुझे दु खके देने वाले हैं, किस उपायसे मै इन कर्मोसे छूटू, और किस उपायसे आत्मीय स्वरूपको प्राप्त करूँ, ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। (भाव सग्रह गाथा ३६८)

३ **विपाकविचय**—इस चतुर्गतिस्वरूप ससारमे जीव अपने-अपने उपार्जित कर्मोके विपाक-रूप फलको भोगते हुए दु खी हो रहे है। किस कर्मका क्या और कैसा फल भोगना पडता है ? इस प्रकार कर्मोके फलका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। (भावसग्रह गाथा ३६९)

४ **सस्थानविचय**—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके स्वरूपका चिन्तन करते हुए यह विचार करना कि इस ३४३ राजू घनाकार लोकमे ऐसा एक भी प्रदेश नही है, जहाँपर कि मैंने अनन्तवार जन्म और मरण न किया हो ? अब यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि जब मै इस जन्म-मरणके चक्रसे छूट सकता हूँ। अत मुझे अब विषय-कषायोकी चाह-दाहसे दूर होकर आत्म-हितमे लगना चाहिए। ऐसा विचार करना सस्थानविचय धर्मध्यान है। (भावसग्रह गाथा ३७०)

अहिंसामयी धर्मका स्वरूप-चिन्तन करना, उत्तम क्षमादि दशधर्मोका विचार करना और वस्तुस्वरूपका निर्णय करना, पचपरमेष्ठीके गुणोका चिन्तन करना, ससार, देह और भोगोका स्वरूप विचारते हुए उदासीन रहना, ये सभी कार्य धर्मध्यानस्वरूप ही हैं। (भावसग्रह गाथा ३७२-३७३)

आत्म-चिन्तन करते समय कषायोदयसे कोई आर्त्तध्यान इष्ट-वियोग, अनिष्टसयोग और वेदना-जनित सकल्प-विकल्परूप प्रकट हो जाये, तो आत्मनिन्दा-गर्हा करते हुए स्वाध्याय और बारह भावनाओंके द्वारा उसे शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। तथा अपने आत्मारामको सबोधित करते हुए कहना चाहिए कि हे आत्मन्! तुम क्या करनेके लिए बैठे थे और अब क्या विचारने लगे ? अहो, आत्म-स्वरूप भूलकर और बाहिरी पदार्थोमे मोहित होकर फिर राग-द्वेषके जाल[1] फँस गये ? इस प्रकार अपने आपको सबोधित करते हुए पुन ध्यानमे स्थिर होनेका प्रयत्न

---

१ किमु कर्तुं समायातः किमु वा क्रियतेऽधुना।
[illegible] हन्त बाध्येन मुह्यसे॥ (आ० वादीभसिंह)

करते रहनेसे धीरे-धीरे कुछ दिनोमे सकल्प-विकल्पोका उठना कम होता जायगा और आत्म-स्वरूपमे स्थिरता बढने लगेगी।

उक्त चार भेदोके अतिरिक्त धर्मध्यानके और भी चार भेदोका वर्णन ध्यान-विषयक शास्त्रोमे किया गया है—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। यद्यपि इन भेदोका उल्लेख तत्त्वार्थ-सूत्र एव उसकी दि० श्वे० टीकाओमे, तथा मूलाचार, भगवती आराधना, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक आदि ग्रन्थोमे नही किया गया है। किन्तु आ० देवसेनने अपने भावसग्रह-मे इनका वर्णन किया है और परवर्ती ज्ञानसार, तत्त्वानुशासन ध्यानस्तव और ज्ञानार्णव आदि ध्यान-विषयक शास्त्रोमे तथा वसुनन्दि श्रावकाचार आदि अनेक श्रावकाचारोमे इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्रावकाचारोमे श्रावकोके कर्तव्य-विशेपोके रूपमे इनका वर्णन किया गया है, वहाँ भाव-सग्रह आदि ध्यान-विषयक शास्त्रोमे साधुके लिए धर्मध्यानके रूपमे इनका वर्णन है।

१ **पिण्डस्थध्यान**—पिण्ड नाम देहका है, उसके भीतर स्थित अपनी आत्माको अतिविशुद्ध, स्फुरायमान श्वेत किरण रूप निर्मल तेजस्वी सूर्यके समान प्रकाशवान् एव विमल गुणवाले आत्म-स्वरूपका चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है[1]।

२ **पदस्थध्यान**—पचपरमेष्ठीके वाचक एक अक्षररूप 'ओ', दो अक्षररूप 'सिद्ध', तीन अक्षररूप 'ओ नम', चार अक्षररूप 'अरहत', पाँच अक्षररूप 'अ सि आ उ सा' आदि से लगाकर ३५ अक्षररूप पच परमेष्ठी-नमस्कार (णमोकार) मत्रका जप करना, पच परमेष्ठीके स्वरूपका चिन्तन करना पदस्थध्यान है[2]।

३ **रूपस्थध्यान**—शरीरमे स्थित आत्माको समवशरणमे स्थित अरिहत भगवान्के समान आठ प्रातिहार्य और अनन्तचतुष्टयसे सयुक्त चिन्तन करना रूपस्थध्यान है।[3]

४ **रूपातीतध्यान**—अपनी आत्माको सर्व कर्ममलसे रहित, अनन्तज्ञानादि अनन्त गुणोसे

---

१ पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णिय अप्पा।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेयकिरणट्ठो ॥ ६२० ॥
देहत्थो झाइज्जइ देहस्सबधविरहिओ णिच्च।
णिम्मलतेयफुरतो गयणतले सूर विवेव ॥ ६२१ ॥
जीवपएमप्पचय पुरिमायार हि णिययदेहत्थ।
अमलगुण झायत णाण पिंडत्थअहियाण ॥ ६२२ ॥ (भावसग्रह)

२ एयपयमक्खर जवियड ज पचगुरुरूवसवध।
त पिय होड पयत्थ झाण कम्माण णिद्दहण ॥६२७॥ (भावमग्रह)
पणतीम मोल छप्पण चदु दुगमेग च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाण अण्ण च गुरुवएमादो ॥४८॥ (द्रव्यमग्रह)

३ वर अट्ठपाटिहेरेहिं परिउट्ठो ममवमरणमज्झगओ।
परमप्पाणतचउट्ठयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ॥ (४७३)
ज झाइज्जड एव म्वत्थ जाण त झाण ॥ ४७५ उत्तरार्ध (वमुनदिश्राय०)

सयुक्त, रूपादिसे रहित अरूपी सिद्धोके समान, अचल, अविनश्वर और शुद्ध विचार करना रूपातीत ध्यान है।[1]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आ० देवसेनने रूपस्थ ध्यानको सालम्ब कहकर दो भेद किये हैं— स्वगत और परगत। पचपरमेष्ठीके स्वरूप-चिन्तनको परगत रूपस्थ ध्यान कहा है और अपने शरीरसे बाहिर स्फुरायमान तेजस्वी सूर्यके सदृश आत्माके स्वरूप-चिन्तनको स्वगत रूपस्थ ध्यान कहा है। उन्होने रूपातीत ध्यानको 'गतरूप' नाम दिया है और उसे निरालम्ब कहते हुए लिखा है कि जहाँ न देहके भीतर कोई चिन्तन हो, न देहके बाहर हो और न स्वगत परगतरूप कोई चिन्तन हो। न धारणा-ध्येयका विकल्प हो, न मनका कोई व्यापार हो। जहाँ इन्द्रियों के विषय-विकार न हो और जहाँ राग-द्वेषका अभाव हो, ऐसी निर्विकल्प समाधिको निरालम्ब गतरूप (रूपातीत) ध्यान जानना चाहिए।[2]

यद्यपि आ० देवसेनने भाव सग्रहमे पिण्डस्थ ध्यानके पार्थिवी धारणा आदि भेद नही किये है, तथापि परवर्ती ध्यान-विषयक ग्रन्थोमे, अनेक श्रावकाचारोमे और खासकर ज्ञानार्णवमे धारणाओका वहुत विशद और विस्तृत वर्णन किया गया है। पाठकोकी जानकारीके लिए यहाँ उन पाँचो धारणाओका सक्षेपसे वर्णन किया जाता है—

१ **पार्थिवी धारणा**—इस मध्यलोकको क्षीरसमुद्रके समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तन करे। पुन उसके मध्यमे जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन विस्तृत, एक हजार पत्रवाला, सतप्त सुवर्णके सदृश चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके बीचमे कर्णिकापर सुमेरु पर्वतका चिन्तन करे। उसके ऊपर पाडुकवनमे पाडुक शिला पर स्फटिकमणिमयी सिंहासनके ऊपर अपनेको बैठा हुआ कल्पना करे और यह विचारे कि मै यहाँ कर्मोको जलाकर अपनी आत्माको पवित्र करने के लिए बैठा हूँ। इस प्रकारसे चिन्तन करनेको पार्थिवी धारणा कहते है।[3]

२ **आग्नेयी धारणा**—उक्त पाडुक शिलापर बैठा हुआ ध्यानी अपनी नाभिके मध्यमे ऊपरकी ओर उठा हुआ एव खिले हुए सोलह पत्रवाला एक श्वेत कमल विचार करे। उसके प्रत्येक पत्र पर पीत वर्णके अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अ. इन सोलह स्वरोको प्रदक्षिणाके क्रमसे लिखा हुआ विचार करे। इस कमलके मध्यमे श्वेत वर्णकी कर्णिका पर 'हँ' अक्षर लिखा हुआ सोचे। इस कमलके ठीक ऊपर हृदय-प्रदेशमे अधोमुख, आठ पत्र वाला मलिन वर्णका आठ दलवाला एक कमल कल्पना करे और उसके आठो पत्रो पर कृष्ण वर्ण

---

१ वण्ण-रस-गध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दसण सरूवो।
ज झाइज्जइ एव त झाण रूवरहिय ति ॥४७६॥ (वसुनन्दि श्रावकाचार)

२ ण य चितइ देहत्थ देहवहित्थ ण चितए किंपि।
ण सगय-परगयरूव त गयरूव णिरालव ॥६२८॥
जत्थ ण करण चिता अक्खररूव ण धारणा धेय।
ण य वावारो कोई चित्तस्स य त णिरालव ॥६२९॥
इदियविसयवियारा जत्थ खय जति राय-दोस च।
मणवावारा सव्वे त गयरूव मुणेयव्व ॥६३०॥ (भावसग्रह)

३ ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक ४–९।

के ज्ञानावरणादि आठो कर्मोको लिखा हुआ विचार करे। तत्पश्चात् नाभिस्थ कमलके मध्य लिखे हुए 'हँ' से धुँआ निकलता विचारे। धीरे-धीरे वह धूम ज्वालाके रूपसे परिणत होकर हृदयस्थित आठ कर्मवाले कमलको भस्म करता हुआ चिन्तन करे। फिर वह अग्नि ज्वाला कमलका मध्य भाग जलाकर, मस्तक पर पहुँच कर उसकी एक रेखा दक्षिण कन्धेसे और दूसरी रेखा वाम कन्धे से नीचेकी ओर आकर पद्मासनके नीचे मिलती हुई चिन्तन करे। अर्थात् अपने शरीरके बाहिर तीन कोणका अग्नि मडल हो गया विचारे। पुन उक्त तीनो रेखाओमे र र र र अग्निमय लिखा विचारे। पुन इस त्रिकोणके बाहिर तीनो कोणो पर अग्निमयी साथियाकी कल्पना करे और भीतरी तीनो कोणोमे ॐ हँ को अग्निमय लिखा चिन्तन करे। पुन यह विचार करे कि उक्त त्रिकोण अग्निमडलके 'र'—कार वर्णसे अग्निशिखा धाय धाय होकर प्रज्ज्वलित होती हुई भीतर तो आठो कर्मोको और बाहिर शरीरको जला रहा है। जलते-जलते कर्म और शरीर भस्म हो गये है और अग्नि ज्वाला शान्त हो गई है। इस प्रकारसे चिन्तन करनेको आग्नेयी धारणा कहते है।[1]

३ मारुती या वायवी धारणा—आग्नेयी धारणाके पश्चात् वह ध्यानी ऐसा चिन्तन करे कि निर्मल एव प्रबल वेगसे बहती हुई वायुने आकर मेरे सर्व ओर एक गोल मडल बना लिया है और साय-साय करता हुआ वह वायुमण्डल उस दग्ध शरीरकी एव कर्मोकी भस्मको उडा रहा है और कुछ क्षणमे उसे उडाकर वह शान्त हो गया है। ऐसा चिन्तन करनेको मारुती धारणा कहते है।[2]

४ वारुणी या जलधारणा—उक्त सर्व भस्मके उड जाने पर ध्यानी पुरुष ऐसा विचार करे कि आकाशमे मेघोके समूह गरजते और बिजली चमकाते हुए आ गये है और मूसलाधार पानी बरसने लगा है, मेरे ऊपर अर्धचन्द्राकार मेघमण्डलमे प प प प जलके बीजाक्षर लिखे हुए हैं और उनसे मेरे ऊपर गिरती हुई जलकी धारासे आत्मा पर लगी हुई भस्म धुल रही है और कुछ देरमे धुल कर मेरा आत्मा बिलकुल निर्मल हो गया है। ऐसा चिन्तन करनेको वारुणी धारणा कहते हैं।[3]

५ तत्त्वरूपवती धारणा—तदनन्तर वह ध्यानी ऐसा चिन्तवन करे कि अब मै सिद्धोके समान निर्मल, शुद्ध, अनन्त ज्ञानादि गुणोके अखण्ड चैतन्यपिण्डरूपसे अवस्थित हूँ, पूर्णचन्द्रके समान निर्मल प्रभावाला हूँ, अज, अजर, अमर और अनन्त अविनश्वर स्वरूप मैने प्राप्त कर लिया है। इस प्रकारसे शुद्ध आत्म स्वरूपके चिन्तन करनेको तत्त्वरूपवती धारणा कहते है।[4]

उक्त प्रकारसे प्रतिदिन पाँचो धारणाओके चिन्तन करते रहनेसे मनकी चचलता दूर होती है, इन्द्रिय-विषयोकी प्रवृत्तिका निरोध होता है और आत्मा निराकुलतारूप परम शान्तिका अनुभव करने लगता है।

---

१ ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक १०–१९।
२ ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक २०–२३।
३ ज्ञानार्णव, सर्ग ३७ श्लोक २४–२७।
४ ज्ञानार्णव, सर्ग ३७ श्लोक २८–३०।

अत साधकका कर्तव्य है कि जब भी गृहस्थीको आरम्भ आदि कार्योंसे अवकाश मिले और जिस समयको अनुकूल समझे, उस समय पद्मासन से बैठकर पांचो धारणाओंसे रूपमें पिण्डस्थ ध्यान करे। इसके पश्चात् परमेष्ठी वाचक मन्त्रोका जाप करे। पुन रूपस्थ ध्यान करते हुए रूपातीत ध्यान करे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आ० देवसेनने इन पिण्डस्थ आदि ध्यानोका वर्णन सप्तम गुणस्थान के अन्तर्गत कहा है। इसका कारण यह है कि वे इसके पूर्व पांचवें और छठे गुणस्थानमे उपचार से धर्मध्यान कहते हैं और मुख्य धर्मध्यानका अधिकारी वे सप्तम गुणस्थानवर्ती ध्यानस्थ साधुको ही मानते है। (देखो भावसग्रह गाथा ३७१)

जब ध्यानमे चित्त न लगे तो अध्यात्मशास्त्रोका स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि अन्तरग तपोमे ध्यानके पूर्व स्वाध्याय तप कहा है।

तत्त्वसार पर पूर्ववर्ती ग्रन्थोंका प्रभाव

जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने पूर्वगत अनेक प्राभृतोका सार खीचकर समयप्राभृत या समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और अनेक प्राभृतोकी रचना की है, उसीप्रकार आचार्य देवसेनने अपने समयमे उपलब्ध भगवती आराधनाका सार खीचकर आराधनासारकी, तथा समयसार, परमात्मप्रकाश और योग-विषयक समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रन्थोका सार खीचकर प्रस्तुत तत्त्वसारकी रचनाकी है, यह बात आगेके विवरणसे स्पष्ट ज्ञात होती है। यथा—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गधो णवि रसो णविय फासो।
णवि रूव ण शरीर णवि सठाण ण सहणण ॥ ५५ ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्म णोकम्म चावि से णत्थि ॥ ५६ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५७ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा य बधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५८ ॥
णो ट्ठिदिवधट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो सजम लद्धिठाणा वा ॥ ५९ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥

—समयसार, अजीवाधिकार

यही बात तत्त्वसारमे इस प्रकार कही है—

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरण विय णिरजणो सो अह भणिओ ॥ १९ ॥
णत्थि कला सठाण मग्गण गुणठाण जीवठाणाइ।
ण य लद्धि-वधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥ २० ॥

फास रस रूव गधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरजणो सो अह भणिओ ॥ २१ ॥

समयसार और तत्त्वसार दोनोकी उक्त गाथाओका अर्थ एक ही है कि निश्चयनयसे जीवके वर्ण, गध, रस, स्पर्श, शब्द आदि कुछ भी नही है, क्योकि ये पुद्गल द्रव्यके परिणाम है। इसी प्रकार कर्मके वन्धस्थान, उदयस्थान, स्थिति बन्धस्थान, सक्लेशस्थान आदि भी नही हैं। न मार्गणा-स्थान है, न गुणस्थान हैं, न जीवस्थान है, न क्रोध, मान, माया, लोभ, लेश्यादि भी नही है, क्योकि ये सव कर्मजनित है। इसी प्रकार कला, सस्थान सहनन आदि भी नही है।

समयसारमे जीव और कर्मके सम्बन्धको जिस प्रकार दूध और पानीके समान सहजात बतलाया गया है, ठीक उसीके अनुसार तत्त्वसारमे भी कहा गया है। यथा—

समयसार—एदेसिं सम्बन्धो जहेव खीरोदय मुणेदव्वो।
ण त हुति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिको जम्हा ॥६२॥

तत्त्वसार— एदेसिं सम्बन्धो णायव्वो खीर-णीरणाएण।
एकत्तो मिलियाण णिय-णियसब्भाव जुत्ताणं ॥२३॥

दोनो गाथाओका भाव एक ही है। समयसारमे जीवको पुरुषकी अपेक्षा उपयोग गुणसे अधिक कहा है और तत्त्वसारमे जीव-कर्मके एक साथ मिलनेपर भी दोनोको निज-निज स्वभावसे युक्त कहा गया है।

३

समयसारमे कहा गया है कि जिसके हृदयमे परमाणुमात्र भी राग विद्यमान है, वह सर्व आगमका वेत्ता हो करके भी अपनी आत्माको नही जानता है। इसी बातको तत्त्वसारमे इस प्रकार कहा गया है कि जब तक योगी अपने मनमे परमाणुमात्र भी राग रखता है, उसे नही छोडता, तबतक परमार्थका ज्ञाता भी वह श्रमण कर्मोसे नही छूटता है। यथा—

समयसार—परमाणुमित्तय पि हु रायादीण तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणय तु सव्वागमधरोवि ॥२१२॥

तत्त्वसार— परमाणुमित्तराय जाम ण छडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ॥५३॥

पाठक स्वय अनुभव करेंगे कि दोनो गाथाओका भाव एक ही है।

४

समयसारमे कहा गया है कि निश्चयनयमे सलीन मुनि ही निर्वाणको पाते है। यथा—

णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावति णिव्वाण। (गाथा २९१ उत्तरार्ध)

इसी वातको तत्त्वसारमे इस प्रकार कहा गया है—

ज अल्लीणा जीवा तरति समारसायर विसम। (गाथा ७३ पूर्वार्ध)

अर्थात् निश्चयनयका आश्रय करनेवाले जीव इस विषम ससार-सागरके पार उतरते हैं।

५

जो लोग वर्तमानकालमे ध्यानका निषेध करते हैं, उनको फटकारते हुए आ० कुन्दकुन्द कहते हैं—

जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥ उत्तरार्धं ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स ।
त अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥
अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इदत्त ।
लोयंतिय देवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जति ॥७७॥ (मोक्षप्राभृत)

अर्थात्—जो यह कहते है कि आज ध्यान करनेका काल नही है, वे अज्ञानी हैं। आज इस भरत क्षेत्रमे दुषमाकालमे भी आत्मस्वभावमे स्थित साधुके धर्मध्यान होता है और रत्नत्रयसे विशुद्ध जीव आत्माका ध्यानकरके इन्द्रपना या लौकान्तिक देवपना पाकर वहाँसे च्युत होकर निर्वाणको जाते है।

इसी बातको तत्त्वसारमे इन शब्दोंके द्वारा प्रकट किया गया है—

सका कखा गहिया विसयपसत्था सुमग्गपब्भट्ठा ।
एव भणति केई णहु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥
अज्जवि तिरयणवता अप्पा झाऊण जति सुरलोय ।
तत्थ चुआ मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाण ॥१५॥

अर्थात्—शका-काक्षासे गृहीत, विषयोसे वशीभूत और सन्मार्गसे भ्रष्ट कितने ही लोग कहते हैं कि यह ध्यानका काल नही है। किन्तु आज भी रत्नत्रयधारी जीव आत्माका ध्यान करके देवलोकमे जाते है और वहाँसे विदेहक्षेत्रके उत्तम मनुष्योमे उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पाठक स्वय अनुभव करेंगे कि दोनो ग्रन्थोकी गाथाओमे शब्द और अर्थगत बिलकुल समानता है।

उक्त उद्धरणोसे यह बात भली-भाँतिसे सिद्ध है कि तत्त्वसार पर आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका स्पष्ट प्रभाव है।

इसी प्रकार योगका पर्यायवाचक जो समाधि शब्द है, उसका तन्त्र या रहस्यको प्रकट करने वाले पूज्यपाद-रचित समाधितन्त्रका भी अनुसरण तत्त्वसारमे देखा जाता है। यथा—

१

अचेतनमिद दृश्यमदृश्य चेतन तत ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽह भवाम्यत ॥४६॥ (समाधितन्त्र)

चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थोह रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥३६॥ (तत्त्वसार)

दोनो उद्धरणोका एक ही अर्थ है—जो कुछ दिखाई देता है वह चेतना-रहित अचेतन पुद्गल है और जो चेतना-सहित जीव है, वह अदृश्य है—दिखाई नही देता। अत मै किससे रुष्ट होऊँ और किससे सन्तुष्ट होऊँ? इस कारण मैं मध्यस्थ होता हूँ।

२

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोल यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत्तत्त्व नेतरो जन ॥ ३५ ॥
(समाधितन्त्र)

रागद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्च पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥ ४० ॥

(तत्त्वसार)

अर्थात् राग-द्वेषादि कल्लोलोसे जिसका मनोजल डवाडोल नही होता, किन्तु अलोल बना रहता है, वही पुरुष अपने आत्मतत्त्वको देखता है किन्तु इससे विपरीत पुरुष उस आत्मतत्त्वको नही देखता है ।

पूज्यपाद-रचित इष्टोपदेशका भी प्रभाव तत्त्वसार पर स्पष्ट दिखाई देता है । आत्मा कैसा है ? इसका उत्तर देते हुए इष्टोपदेशमे कहा है—

स्वसवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय ।
अनन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकन ॥ २१ ॥

यही बात तत्त्वसारमे इस प्रकार कही गई है—

दसण-णाण पहाणो असखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥ १७ ॥

अर्थात्-आत्मा स्वसवेदनसे प्रकट है, अपने ग्रहण किये गये शरीरके प्रमाण है, विनाश-रहित नित्य है, अनन्त सुखवाला है और अनन्त ज्ञानदर्शनसे लोक और अलोकको देखनेवाला है ।

२

अध्यात्मयोगका लाभ बतलाते हुए इष्टोपदेशमे कहा गया है—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

यही बात तत्त्वसारमे इसप्रकारसे कही गई है—

मणवयणकाय रोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूण ।
चिरबद्ध गलइ सय फलरहियं जाइ जोईण ॥ ३२ ॥

अर्थात्—अध्यात्मयोगसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका निरोध होनेपर कर्मोका आस्रव रुकता है और चिर-सचित कर्मोकी नियमसे शीघ्र निर्जरा हो जाती है ।

स्वामी समन्तभद्रके वृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका भी प्रभाव तत्त्वसारकी कुछ गाथाओपर स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है । भ० कुन्थुनाथकी स्तुति करते हुए कहा गया है कि घातिया कर्मोके क्षय करनेपर रत्नत्रयके अतिशय तेजसे आप उसीप्रकार शोभायमान होते हैं जैसे कि अभ्र-रहित आकाशमे प्रदीप्त किरणवाला सूर्य शोभित होता है ।[1] इसी भावको तत्त्वसारकी गाथा ३० मे 'जह णहे सूरो' कह कर प्रकट किया गया है ।[2]

भ० धर्मनाथकी स्तुति करते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते है कि घातिया कर्मोका क्षय करके

---

१ हुत्वा स्वकर्मकटुक प्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य ।
विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ८४ ॥

२ जह जह मणसचारा इदिय विसया वि उवसम जति ।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाण जह णहे सूरो ॥ ३० ॥

आपने मानुषी प्रकृतिका अतिक्रमण कर दिया और देवताओके भी देवता हो गये।[1] इसी भावको तत्त्वसारकी गाथा ४२ मे 'अमाणुसत्त खणद्धेण' कहकर व्यक्त किया गया है।[2]

तत्त्वसारका परवर्ती ग्रन्थोंपर प्रभाव

तत्त्वसारके पश्चात् रचे गये ग्रन्थोपर भी तत्त्वसारका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तत्त्वसारकी गाथा ६५ मे कहा गया है कि जैसे राजाके मारे जानेपर सेना स्वय विनष्ट हो जाती है, उसीप्रकार मोहराजाके नष्ट होनेपर शेप घातिकर्म स्वय ही विनष्ट हो जाते हैं। यही बात आप्तस्वरूपमे कही गई है—

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोपाश्च विद्रुता।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्त सैन्यमराजवत्॥ ८॥

तत्त्वसारकी गाथा ३२ मे कहा गया है कि जबतक योगीका चित्त परद्रव्यमे सलग्न रहता है, तब तक वह उग्र तपको करता हुआ भी मोक्ष नही पाता। यही बात ज्ञानार्णवमे भी कही गई है—

पृथगित्थ न मा वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रम।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्र न स मुच्येत वन्धनै॥ (३२, ४७)

भावसंग्रह और तत्त्वसारके रचयिता एक हैं

कुछ विद्वान् भावसग्रह और तत्त्वसारके रचयिता भिन्न-भिन्न दो देवसेन आचार्य मानते है। परन्तु ध्यान-विषयक प्रकरणको देखनेपर दोनोके रचयिता एक ही देवसेन है यह बात आगे दिये जाने वाले प्रमाणोके आधारपर भलीभातिसे सिद्ध होती है।

भावसग्रहमे रूपस्थ ध्यानका वर्णन करते हुए कहा गया है—

रूवत्थ पुण दुविह सगय तह परगय च णायव्व।
स परगय भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पचपरमेट्ठी॥ ६२४॥
सगय त रूवत्थ झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा।
णियदेहस्स बहित्थो फुरतरवि-तेजसकासो॥ ६२५॥

अर्थात्—रूपस्थ ध्यान दो प्रकारका है—स्वगत और परगत। जिसमे पच परमेष्ठीका ध्यान किया जाय, वह परगत ध्यान है और जिसमे अपने आत्माको ध्याया जावे, वह स्वगत ध्यान है। वह आत्मा निज शरीरसे भिन्न स्फुरायमान सूर्यके सदृश तेजस्वी है।

भावसग्रहमे जो बात दो गाथाओमे कही गई है, वही तत्त्वसारमे एक गाथा-द्वारा कही गई है। यथा—

एग सगय तच्च अण्ण तह परगय पुणो भणिय।
सगय णिय अप्पाण इयर पचावि परमेट्ठी॥ ३॥

---

१ मानुपी प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिन वृप प्रसीद न॥ ७५॥

२ दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इदियत्थपरिचत्ते।
जायइ जोइस्स फुड अमाणुसत्त खणद्धेण॥ ४२॥

अर्थात्—तत्त्व दो प्रकारका है—एक स्वगततत्त्व और दूसरा परगत तत्त्व। निज आत्मा स्वगत तत्त्व है और पाँचो परमेष्ठी परगत तत्त्व है।

स्वगत तत्त्वको भावसग्रहमे गतरूप शब्दसे और तत्त्वसारमे अविकल्प शब्दसे कहा गया है और दोनो ध्यानोकी प्राप्तिके लिए इन्द्रियो तथा मनके व्यापारोका और राग-द्वेषका अभाव आवश्यक बताया गया है। यथा—

भावसंग्रह—इदियविसयवियारा जत्थ खय जति राय दोस च।
मणवावारा सव्वे त गयरूव मुणेयव्व॥ ६३०॥

तत्त्वसार—इदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरण हवे जइया।
तइया त अवियप्प ससरूवे अप्पणो त तु॥ ६॥

पाठक स्वय अनुभव करेंगे कि दोनो गाथाओमे जो शब्द और अर्थगत समानता है, वह दोनोका एक कर्तृत्व सिद्ध करती है।

इससे आगे चलकर चार घातिया कर्मोके नष्ट होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्तिको भी समान शब्दोमे बताई गई है। यथा—

भावसग्रह—घाइचउक्कविणासे उप्पज्जइ सयल विमल केवलय।
लोयालोयपयास णाण णिरुपद्दव णिच्च॥ ६६५॥

तत्त्वसार—घाइचउक्के णट्ठे उपज्जइ विमलकेवल णाण।
लोयालोयपयास कालत्तय जाणग परम॥ ६६॥

उक्त प्रमाणोके आधारपर भावसग्रह और तत्त्वसारके रचयिता एक ही देवसेन सिद्ध होते है।

आ० देवसेनका समय और अन्य रचनायें

यद्यपि तत्त्वसारके अन्तमे अपने नामके अतिरिक्त उसके रचनेका कोई समय नही दिया है, तथापि उन्होने दर्शनसारके अन्तमे जो दो गाथाएँ दी है, उनसे उनके समय और रचना-स्थानका पता चलता है। वे दोनो गाथाएँ इस प्रकार है—

पुव्वायरियकयाइ गाहाइ सचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेनगणिणा धाराए सवसवेण॥
रइयो दसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहमुद्धदसमीए॥

अर्थात्—पूर्वाचार्य-रचित गाथाओका एकत्र सग्रह करके देवसेन गणीने धारानगरीमे निवास करते हुए यह दर्शनसार जोकि भव्योके लिये हाररूप है—श्री पार्श्वनाथ-जिनालयमे वि० स० ९९० की माघसुदी दशमीको रचा है।

इस प्रकार आ० देवसेनने दर्शनसारके अन्तमे उसके रचना-काल और रचना-स्थानका निर्देश किया है, किन्तु अन्य रचनाओमे कोई निर्देश नही किया है। दर्शनसारमे उन्होने अपनेको 'देवसेनगणी' कहा है। तत्त्वसारमे 'मुनिनाथ देवसेन' कहा है और आराधनासारमे केवल 'देवसेन' कहा है। गणी और मुनिनाथ पदको एकार्थक मान लेनेपर दोनोके रचयिता एक ही देवसेन सिद्ध होते है।

भावसग्रहके अतिरिक्त अन्य किसी भी रचनामे देवसेनने अपने गुरुके नामका कोई उल्लेख नही किया है। भावसग्रहकी अन्तिम गाथामे उन्होने अपनेको श्री विमलसेन गणधरका शिष्य कहा है। वह गाथा इस प्रकार है—

सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो त्ति।
अबुहजणबोहणत्थ तेणेय विरइय सुत्त ॥७०१॥

अन्य रचनाओमे प्रकारान्तरसे गुरुके नामका सकेत अवश्य उपलब्ध होता है। यथा—आराधनासारकी मगल गाथामे 'विमलगुणसमिद्ध' पदसे, दर्शनसारमे 'विमलणाण' पदसे, नयचक्रमे 'विगयमल' और 'विमलणाणसजुत्त' पदसे गुरुके 'विमलसेन' इस नामका आभास मिलता है। अत ये सब ग्रन्थ एक ही देवसेन-रचित सिद्ध होते है। दर्शनसार और भावसग्रह तो एक ही देवसेनके रचे है, यह बात दोनो ग्रन्थोमे श्वेताम्बरमतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे दी गई एक ही गाथाकी अक्षरश समानतासे सिद्ध है। इस विषयकी अन्य गाथाओमे भी शब्द और अर्थगत बहुत अधिक समानता पाई जाती है।[1]

अभी तक आ० देवसेनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशमे आई है—

१ **भावसग्रह**—इसमे चौदह गुणस्थानोके स्वरूपका विस्तृत वर्णन करनेके साथ उनमे पाये जानेवाले औपशमिक आदि भावोका भी निरूपण किया गया है। इसमे सबसे अधिक १८२ गाथाओ द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन है। मिश्रगुणस्थानका ६१ गाथाओमे, अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानका ९१ गाथाओमे, देशविरत गुणस्थानका २५० गाथाओमे, प्रमत्तविरतगुणस्थानका ४२ गाथाओमे और अयोगिकेवली गुणस्थानका २२ गाथाओमे वर्णन किया गया है। शेष उपशम-क्षपक श्रेणीगत गुणस्थानोका और सयोगिकेवली गुणस्थानका ६४ गाथाओमे वर्णन है। मगलाचरण, उत्थानिका एव अन्तिम उपसहार गाथाओको मिलाकर पूरे ग्रन्थमे ७०१ गाथाएँ है। इनमे गुणस्थानके स्वरूप-वर्णन एव अन्य मतोकी उत्पत्ति-निरूपण करने वाली गाथाएँ प्राय प्राचीन ग्रन्थोसे सकलित की गई है, अत इसका भावसग्रह यह नाम सार्थक है। आ० देवसेनकी रचनाओमे यह सबसे बडी रचना है।

२ **आराधनासार**—इसमे ११५ गाथाओके द्वारा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना इन चार आराधनाओका वर्णन किया गया है। भगवती आराधना नामसे प्रसिद्ध आ० शिवार्यकी विस्तृत मूलाराधनाका सार खीचकर इसकी रचना की गई है।

३ **लघुचक्रनय**—इसमे ८७ गाथाओके द्वारा नयोका स्वरूप, उनकी उपयोगिता और भेद-प्रभेदोका वर्णन किया गया है।

४ **दर्शनसार**—इसमे ५१ गाथाओके द्वारा श्वेताम्बरमत, बौद्धमत, द्राविडसघ यापनीय-सघ, काष्ठासघ, माथुरसघ और भिल्लकसघकी उत्पत्तिका वर्णनकर उनकी समीक्षा की गई है।

५ **तत्त्वसार**—इस प्रस्तुत ग्रन्थमे ७४ गाथाओके द्वारा जीवोके सबसे अधिक उपादेय शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कैसे होती है, इसका वर्णन किया गया है। वस्तुत इसके पूर्व-रचित द्वादशाग वाणीके सारभूत समयसारादि ग्रन्थोका सार ही खीचकर इसमे निबद्ध कर दिया गया है।

---

१ देखो—दर्शनसार गाथा ११-१३ और भावसग्रह गाथा १३७-१४०।

उपरिलिखित सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषामे रचे गये है।

६ आलापपद्धति—यह गद्य सस्कृत भाषामे रचित एकमात्र ग्रन्थ अभी तक आ० देवसेनका उपलब्ध हुआ है। इसमे १६ अधिकारोके द्वारा क्रमसे द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण व्युत्पत्ति, पर्याय-व्युत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, एकान्त पक्षमे दोष, नययोजना, प्रमाणलक्षण, नयस्वरूप और भेद, निक्षेप-व्युत्पत्ति, नय भेदोकी व्युत्पत्ति और अध्यात्मनयोका बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। जैन स्याद्वादको जाननेके लिये यह नयवाद जानना अत्यावश्यक है।

संस्कृत टीका और उसके रचयिता

तत्त्वसारकी प्रस्तुत एक ही सस्कृत टीका प्राप्त हुई है। शास्त्र-भण्डारोकी अनेक सूचियोके देखनेपर भी अन्य कोई दूसरी टीकाके होनेका कोई सकेत नही मिला। प्रस्तुत सस्कृत टीकाकी प्रति ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावर की है जो किसी प्राचीन प्रतिसे हालमे ही नकल की गई है। लेखककी असावधानीसे एव प्राचीन प्रतिको ठीक नही पढ सकनेसे अनेक पाठ अशुद्ध हो गये है और दो-तीन स्थलोके पाठ छूट भी गये है। उन छूटे पाठोके प्रकरणके अनुसार बनाकर ( ) कोष्ठकमे दिया गया है। (देखो—गाथा २० की टीकामे पाँचवी और छठी नरक भूमिका कोष्ठकान्तर्गत रिक्त पाठ)

जिन अनेक स्थलो परके अशुद्ध पाठ प्रयत्न करनेपर भी शुद्ध नही किये जा सके है, उन्हे ज्यो का त्यो देकर (?) इस प्रकारसे कोष्ठक भीतर प्रश्नचिह्न दे दिया गया है।

टीकाकारने अपने मगलाचरणके बाद श्री नेमीश्वर आदि तीर्थोकी यात्रासे लौटकर जहाँ धर्मोपदेश देते हुए श्री अमरसिंहके लिये तत्त्वसारकी टीका रचनेका निर्णय किया है उस नगरका नाम हस्तलिखित प्रतिमे 'श्रीयथपुर' को हमने 'श्रीपथपुर' किया है। पर यह वर्तमानमे कौन-सा नगर है, यह हम नही जान सके है। इससे आगेके 'तथैत्वदान्नक्ष्मीकृत' पाठको भी शुद्ध नही किया जा सका और इसी कारण उसका भाव भी स्पष्ट नही हो सका है। इसीके आगे दिये गये 'ठ' पदका क्या भाव है, यह समझमे नही आनेसे हमने 'ठाकुर' अर्थ किया है। यदि किसी विद्वान्को उक्त पाठ शुद्ध प्रतीत हो जावें तो वे सूचित करनेकी कृपा करें।

प्रस्तुत सस्कृत टीकाके रचयिताने टीकाके अन्तमे जो प्रशस्ति दी है, उससे सिद्ध है कि काष्ठासघ, माथुरगच्छ और पुष्करगणके भट्टारक क्षेमकीर्तिके प्रशिष्य और श्री हेमकीर्तिके शिष्य श्री कमलकीर्त्तिने इस टीकाको रचा है। काष्ठासघकी जो गुर्वावली 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' के चतुर्थ भागमे दी गई है, उससे भी उनके उक्त कथनको पुष्टि होती है। उक्त गुर्वावलीमे दिये गये कुछ पद्य इस प्रकार है—

अध्यात्मनिष्ठ प्रसरत्प्रतिष्ठ कृपावरिष्ठ प्रतिभावरिष्ठ ।
पट्टे स्थितस्य त्रिजगत्प्रशम्य श्रीक्षेमकीर्त्ति कुमुदेन्दुकीर्त्ति ॥३३॥

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदयाद् दुर्जय
रागद्वेषमदान्धकारपटल सञ्चित्करैर्दारयन् ।
श्रीमान् राजित हेमकीर्त्तितरणि स्फीता विकासश्रिय
भव्याम्भोजचये दिगम्बरपथालङ्कारभूना दधत् ॥३४॥

कुमुदविशदकीर्तेर्हेमकीर्तेः सुपट्टे विजितमदनमायः शीलसम्पत्सहायः।
मुनिवरगणवन्द्यो विश्वलोकैरनिन्द्यो जयति कमलकीर्त्ति जैनसिद्धान्तवादी ॥३५॥

भावार्थ—काष्ठा सघकी गुरुपरम्परामे अनन्तकीर्ति हुए। उनके पट्टपर अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न, अध्यात्मनिष्ठ श्रीक्षेमकीर्ति आसीन हुए। उनके पट्ट पर, राग, द्वेष और मदरूप अन्धकार को नाश करनेके लिए सूर्यके समान श्री हेमकीर्ति विराजमान हुए और उनके पट्टपर मदनकी मायाको जीतने वाले, शीलरूप सम्पत्तिके धारक, उत्तम मुनिगणसे वन्द्य, लोकमे प्रशसाको प्राप्त एव जैनसिद्धान्तवादी श्रीकमलकीर्त्ति बैठे।

सस्कृत टीकाकी प्रशस्तिके अन्तमे कमलकीर्त्तिने अपने लिए जिन विशेषणोंको दिया है, उसकी पुष्टि गुर्वावलीके उक्त ३५ वें पद्यसे भी होती है।

इतना स्पष्ट ज्ञात हो जाने पर भी न तो गुर्वावलीमे उनके समयका कोई उल्लेख है और न टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमे ही स्वय टीकाकारने अपने समय और स्थान आदिका कोई उल्लेख किया है। अन्य सूत्रोसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उक्त गुर्वावलीमे कमलकीर्तिके पश्चात् कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनन्दि और यश कीर्ति क्रमश पट्ट पर बैठे है। यत भ० पद्मनन्दि श्रावकाचार सारोद्धारकी प्रति वि० स० १५८० की लिखी प्रति प्राप्त हुई है, जिसका उल्लेख हमने श्रावकाचार सग्रहकी प्रस्तावनामे किया है। और इसके पूर्व उसका रचा जाना सिद्ध है।

भट्टारक सम्प्रदायके लेखाङ्क २३९ के अनुसार इन्होने भ० आदिनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा वि० स० १४५० मे करायी है। वि० स० १४६५ और वि० स० १४८३ मे उत्कीर्ण किये गये बिजौ-लियाके शिलालेखोमे इनकी प्रशसा की गयी है, अत पद्मनन्दिका उक्त समय निश्चित है। यदि कमलकीर्त्तिके पश्चात् उनके पट्टपर बैठनेवाले कुमारसेन और हेमचन्द्रका समय २० + २० वर्ष भी माना जाये तो कमलकीर्त्तिका समय वि० स० १४१० के आस-पास माना जा सकता है।

श्री कमलकीर्त्तिने अपनी टीकामे प० वामदेव-रचित त्रैलोक्य दीपक नामक ग्रन्थका उल्लेख कर उसके एक श्लोकको उद्धृत किया है और त्रैलोक्य दीपककी एक प्रति-जो योगिनीपुर (दिल्ली) मे लिखी गई है—उसमे लेखन-काल वि० स० १४२६ दिया हुआ है।, अत इनका समय इससे पूर्व और प० वामदेवसे पीछेका होना निश्चित है। इस प्रकार ऊपर अनुमानके आधार पर जिस समयको कल्पनाकी गई है, यह ठीक प्रतीत होता है।

कमलकीर्त्तिकी शिष्य-परम्पराका उल्लेख वि० स० १५२५ मे उत्कीर्ण ग्वालियरके मूर्त्ति-लेखमे पाया जाता है। उसके अनुसार कमलकीर्त्तिके पट्टपर सोनागिरमे भ० शुभचन्द्र प्रतिष्ठित हुए। इसका उल्लेख रयधू कविने अपने हरिवशपुराणकी आदि वा अन्तकी प्रशस्तिमे भी किया है। यथा—

कमलकित्ति उत्तमखम धारउ, भव्वइ भव-अम्भोणिहि-तारउ ॥
तस्य पट्ट **कणयद्दि परिट्ठिउ**, सिरि सुहचदु सु तव उक्कठिउ ॥

(हरि व० आदि-प्रशस्ति)

जिण सुत्त-अत्थअलहएण, **सिरिकमलकित्ति-पयसेववएण**।
सिरिकजकित्ति-पट्ट वरेसु तच्चत्थ-सत्थ-भासण-दिणेसु।
उइण-मिच्छत्त-तमोहणासु सुहचदुभडारउ सुजसवासु ॥

(हरि व० अन्तिम प्रशस्ति)

आदिम प्रशस्तिमे आये हुए 'कणयद्दि' पदका सस्कृत रूप 'कनकाद्रि' है और यत कनक नाम सुवर्ण (सोना) का है और अद्रि नाम गिरि (पर्वत) का है, अत कनकाद्रि नाम 'सोनागिरि' का सिद्ध है।

अन्तिम प्रशस्तिकी प्रथम पक्तिमे 'कमलकित्ति' और दूसरी पक्तिमे 'पकजकित्ति' नाम पर्यायवाची है, अत वे एक ही 'कमलकीर्त्ति' को सिद्ध करते है।

उक्त प्रमाणोके आधार पर यह सिद्ध होता है कि कमलकीर्ति सोनागिरिके भट्टारक-पट्ट पर आसीन रहे हैं।

कमलकीर्तिने अपनेको कही मुनि, कही यति और कही भट्टारक नामके साथ गाथाओकी टीका करनेका उल्लेख किया है। जिनके निमित्तसे प्रस्तुत टीकाका निर्माण हुआ है उन श्री अमरसिंहने भी २-१ स्थलो पर उन्हे भट्टारक नामसे सम्बोधित किया है। गाथाओकी टीका प्रारम्भ करते हुए इन्होने कही अपनेको टीकाकार, कही टीकाकर्त्ता, कही वृत्तिकार और कही वृत्तिकर्त्ता कहा है। इसी प्रकार कई स्थानो पर अपनेको 'पकजकीर्त्ति' भी कहा है, क्योकि पकज कमलका पर्यायवाची नाम है।

टीकामे उद्धृत गाथाओ एव श्लोकोको देखते हुए यह ज्ञात होता है कि ये व्याकरण और शब्द-कोषके वेत्ता होनेके साथ गोम्मटसार जीवकाड आदि सिद्धान्त ग्रन्थोके भी अच्छे ज्ञाता थे।

टीकामे इन्होने एकत्वसप्तति नामक अनेकार्थं कोषका, पूज्यपाद-रचित सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिका और त्रैलोक्यदीपकका नामोल्लेख करके उनके उद्धरण दिये है।

टीकाकारने गाथा ६२ की टीकामे एक भावलिंगी शिवकुमारका उल्लेख किया है, जो कि अपने अन्त पुरके भीतर रहते हुए ही षष्ठोपवास करते थे और पारणाके दिन पर-घरसे लाये हुए काजिक आहारको ग्रहण करते थे। टीकाकारने यह उदाहरण चतुर्थकालके किसी शिवकुमारका दिया है, या पचमकालके किसी उदासीन शिवकुमार का ? यह ज्ञात नहीं हो सका है।

इस टीकाकी सबसे बडी विशेषता मूल तत्त्वसारकी गाथाओको पर्वोमे विभाजित करना है। प्रारम्भकी आठ गाथाओको स्वगत और परगत तत्त्वका वर्णन करनेवाला प्रथम पर्व कहा है। दूसरे पर्वमे ९ से लेकर २१ तककी १३ गाथाओकी व्याख्या कर उसे निरजनस्वरूप स्वगत तत्त्वका प्रतिपादक कहा है। तीसरे पर्वमे २२ से लेकर ३२ तककी ११ गाथाओकी व्याख्या कर उसे ध्यानके माहात्म्यका वर्णन करने वाला कहा है। चौथे पर्वमे ३३ से लेकर ४५ तककी १३ गाथाओकी व्याख्या कर उसे भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गकी भावनाके फलका वर्णन करने वाला कहा है। पाँचवें पर्वमे ४६ से लेकर ६६ तककी २१ गाथाओकी व्याख्या कर उसे धर्म ध्यानकी परम्परासे प्राप्त शुक्लध्यानके फलस्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन करने वाला कहा है। अन्तिम छठे पर्वमे ६७ से लेकर ७४ तककी ८ गाथाओकी व्याख्या करके उसे सिद्धोके स्वरूपका वर्णन करनेवाला कहा है।

टीकाकार कमलकीर्तिने प्रत्येक गाथाकी उत्थानिकामे तत्त्वसारके रचयिता देवसेनको परमाराध्य, परमपूज्य भट्टारक विशेषणके साथ, कही 'भगवान्' पदके साथ, कही 'देवसेनदेव' कहकर और कही सूत्रकार कहकर अति परम पूज्य विशेषणोंके द्वारा उनके नामका उल्लेख किया है।

प्रत्येक पर्वके प्रारम्भमे टीकाकार कमलकीर्त्तिने अमरसिंहको सम्बोधन करने वाला एक-

४

एक आशीर्वादात्मक पद्य दिया है। तथा ग्रन्थके अन्तमे भी उन्हीको सम्बोधित करके कहा है कि हे ससारभीरु अमरसिह, प्रसिद्ध अष्ट गुणोसे युक्त सिद्ध भगवन्त तुझे सिद्धि-प्रदाता हो।

प्रत्येक पर्वकी अन्तिम प्रशस्तिका निर्माण सर्वत्र एक ही प्रकारकी पदावलीमे करके अपनी टीकाको अति निकट भव्यजनोको आनन्दकारक, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत, भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको विकसित करनेके लिए दिनकरके समान, भट्टारकश्रीकमल-कीर्तिदेव विरचित तत्त्वसारका विस्तारावतार कहा है।

प्रत्येक गाथाकी टोका प्रारम्भ करते हुए गाथाके प्रथम चरणको देकर इत्यादि कहते हुए उसे पद-खण्डनाके रूपसे व्याख्यान करनेका उल्लेख किया गया है। पदखण्डना पदका अर्थ खण्डा-न्वयी टीकासे है, जिसमे प्राय क्रियापदको देकर पुन 'कम्', 'कथम्भूतम्' आदि प्रश्न उठाते हुए गाथाका विवरण किया जाता है। हमने कही भी 'पदखण्डनारूपेण' इस पदका अर्थ नही लिखा है।

टीकाके अध्ययन करने पर पाठक स्वय ही यह अनुभव करेंगे कि टीकाकार कमलकीर्ति-को गुरुपरम्परासे अध्यात्मशास्त्रोका अच्छा ज्ञान प्राप्त था और वे तत्त्वसारके रहस्यके पारगत विद्वान् थे।

भाषा छन्दकारका परिचय

प्रस्तुत तत्त्वसारकी मूलगाथाओका प० द्यानतरायजीने दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दमे पद्यानुवाद किया है, जिसे मूलगाथाकी सस्कृत छायाके नीचे दिया गया है। इन छन्दोको पढते हुए पाठक अनुभव करेंगे कि उन्होने तत्त्वसारके मर्मको किस प्रकारसे एक-एक छन्दमे भरकर 'गागरमे सागर' भरनेकी लोकोक्तिको चरितार्थ किया है।

यह छन्दोबद्ध-रचना द्यानतरायजी द्वारा रचित धर्म-विलासमे सकलित है। इसमे कुल ७९ छन्द है। जिसमेसे तत्त्वसारकी ७४ गाथाओसे ७४ छन्दोके अतिरिक्त एक दोहा मगलाचरण-का है और ४ सोरठा अन्तमे प्रार्थनारूप है।

कवि द्यानतरायजी आगरा-निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जातिके गोयल गोत्रमे हुआ था। इनके पितामहका नाम वीरदास और पिताका नाम श्यामदास था। द्यानतरायजीका जन्म वि० स० १७३३ मे हुआ था। इन्होने अनेक उपदेशी भजन, पूजा-पाठ, स्तोत्र आदि स्वतन्त्र रच-नाओके अतिरिक्त अनेक प्राचीन सस्कृत और प्राकृत रचनाओका भी हिन्दी भाषाके छन्दोमे पद्यानुवाद किया है।

कविने अपनी समस्त रचनाओका सकलन वि० स० १७८० मे धर्मविलासके नामसे किया है।

भाषा-वचनिकाकारका परिचय

तत्त्वसारके प्रस्तुत सस्करणमे ब्यावर-सरस्वती भवनसे प्राप्त एक भाषावचनिका भी दी गई है। इसे श्री पन्नालाल चौधरीने वि० स० १९३१ के वैशाखवदी सप्तमी गुरुवारके दिन रच कर पूर्ण किया है। यह बात वचनिकाके अन्तमे दी गई प्रशस्तिसे सिद्ध है। ये पन्नालाल चौधरी कहाँके रहने वाले थे और किस जैनकुलमे उनका जन्म हुआ था, इसका कोई उल्लेख उन्होने नही किया है। वचनिकाकी भाषाको देखते हुए ये राजस्थानके रहने वाले होना चाहिए।

गाथा ११, १५, ४१, ४५, ५३, ७२ और ७४ की वचनिकाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसके सामने तत्त्वसारकी सस्कृत टीका रही है, जिसके आधार पर उन्होने उक्त गाथाओ पर अधिक विवेचन किया है। गाथाका अर्थ करनेके पूर्व दी गई उत्थानिकाओसे भी उक्त बात सिद्ध होती है।

उक्त गाथाओके आधार पर किये गये विवेचनके अतिरिक्त गाथा ७२ की वचनिकामे दिये गये 'ससार-भीरु अमरसिंह, तू भी सिद्धनिकूँ नमस्कार करि' इस वाक्यसे तो स्पष्टरूपसे सिद्ध है कि उनके सामने कमलकीर्त्ति-रचित सस्कृत टीका थी। क्योकि उक्त वाक्य सस्कृत टीकाके 'भो ससारभीरो अमरसिंह, त्वमपि नमस्कुरु, इस वाक्यका शब्दश. अनुवाद है। दूसरे, अमरसिंहके नामका उल्लेख टीकाके सिवाय मूल गाथाओमे कहीभी नही है। टीकाकारने ही आरम्भसे लेकर अन्ततक अनेक बार अमरसिंहके नाम का उल्लेख किया है।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

विषय-सूची

द्वितीय पर्व

तीसरा पर्व

चौथा पर्व

पाँचवाँ पर्व

छठा पर्व



श्री देवसेनाचार्य-विरचित

तत्त्वसार

(श्री कमलकीर्ति-रचित वृत्ति-संयुक्त)

मङ्गलाचरणम्

यज्ज्ञानं विश्वभावार्थदीपकं संशयादिहृत् ।
तं वन्दे तत्त्वसारज्ञं देवं सर्वविदांवरम् ॥१॥
सर्वविद्-हिमवद्-वक्त्र-सरोरुह-विनिर्गता ।
वाग्गङ्गा हि भवत्वेषा मे मनोमल-हारिणी ॥२॥
गुरूणां पादपद्मं च मुक्तिलक्ष्मी-निकेतनम् ।
मे हृत्सरसि सानन्दं क्रीडतामन्तरायहृत् ॥३॥
पुन श्रीगौतमादीनां स्मृत्वा चरणपङ्कजम् ।
वक्ष्ये श्रीतत्त्वसारस्य वृत्ति संक्षेपतो मुदा ॥४॥

भाषा वचनिकाकारका मगलाचरण

दोहा

प्रणमि श्री अरहंतकूं सिद्धनिकू शिर नाय ।
आचार्य उवझाय मुनीनिकू पूजूं मन वच काय ॥१॥
गौतम गुरुकू वदि करि वदि जिनोक्त सुवाणि ।
तत्त्वसारकी देशना करूं वचनिका जाणि ॥२॥

जिनका ज्ञान समस्त तत्त्वार्थोको प्रकाशित करनेके लिए दीपकरूप है, सशय, विभ्रम, विमोहका नाशक है, जो तत्त्वोके सारके ज्ञायक है, और सर्वतत्त्व-वेत्ताओमे श्रेष्ठ है ऐसे उन सर्वज्ञदेवकी मैं टीकाकार कमलकीर्त्ति वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

सर्वज्ञरूप हिमवान् पर्वतके मुख-कमलसे निकली हुई यह वचन-गगा मेरे मनके मलको दूर करनेवाली होवे ॥ २ ॥

गुरुजनोके चरण-कमल मुक्ति-लक्ष्मीके निकेतन (ध्वजारूप या गृहस्वरूप) हैं और प्रारब्ध कार्यमे आनेवाले विघ्नोंके विनाशक है, वे चरण-कमल मेरे हृदय-सरोवरमे नित्य क्रीडा करें ॥ ३ ॥

पुन श्रीगौतम आदि गणधरोंके चरण-कमलोका स्मरण कर मैं हर्ष-पूर्वक श्रीतत्त्वसारकी वृत्तिको सक्षेपसे कहूँगा ॥ ४ ॥

अथ श्रीनेमीश्वर-महातीर्थादियात्राविहारक्रमं विधाय व्याघुट्य च श्रीपथपुरमागत्य महामहोत्सवपूर्वक धर्मोपदेश कुर्वतः सत्यतो मे यथा भेदेतररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गभावना भावयत-स्तर्थत्वदान्न(?) क्षमीकृतपरमार्थरतसुलक्षणेन श्रतोपतनयेन मतिमयेन ठ श्रीलब्धनामधेयेनेदं वच. प्रोक्तम्—भो कृपावारिसागर, चतुर्गतिससाराम्बुधियान, भट्टारक श्रीकमलकीर्त्तिदेव, चतुर्विध-सघकृतसेव, ससार-शरीर-भोगनिर्ममो मदीयो नाथोऽय तत्त्वातत्त्व-हेयोपादेयपरिज्ञानलालस श्री अमरसिहो वरीवर्त्ति। ततस्तत्त्वोपदेशेन बोध्यते चेत्तदा वरम्। इत्याकर्ण्याऽऽकुलीभूतमानसे मुहूर्विमृश्याल्पमतिनापि मया चिन्तितमिति सर्वविद्योक्ततत्त्वोपदेशे पुण्य भविष्यति, पुण्येन तत्त्व-सारोपदेशाख्य शास्त्र सम्पूर्णं भविष्यतीति मत्वा तत्त्वसारविस्तारावतार भावनाग्रन्थ कर्तुं समुद्यतोऽहमभवम्।

अथासन्नीकृतोऽपारससारतीरेणान्तर्भावितसकल—केवलज्ञानमूर्त्तिसर्वविन्महावीरेण समा-विष्कृत-समयसार-चारित्रसार-पञ्चास्तिकायसार—सिद्धान्तसारादिसारणसमूरीकृतवाह्याभ्यन्तर—दुर्द्धरद्वादशविधतपोभारेण समभ्यसितसम्यक्त्वाद्यष्टगुणालङ्कृतपरमात्मस्वभावेन तिरस्कृतासंसारा-यातात्ज्ञानोद्भवलोकमात्रसङ्कल्पविकल्पात्मकविभावेन भस्मीकृतद्रव्यकम-भावकर्म-नोकर्ममल-कलङ्काना सिद्धाना द्रव्य-भावरूपा स्तुतिं कर्तुकामेन भेदाभेदरत्नत्रयानुभवोद्भवसम्यग्ज्ञानमहा-

श्रीनेमीश्वर-महातीर्थ ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) महातीर्थं आदि सिद्ध क्षेत्रोकी (वन्दना) यात्रारूप विहार कार्यकर और लौटकर [1]श्रीपथपुरमे आकर महामहोत्सव-पूर्वक धर्मोपदेश करते हुए जब मै भेदाभेदरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गकी भावना कर रहा था, तब वहाँके परमार्थ-रत सुलक्षणवाले ठाकुर सन्तोषके सुपुत्र, मतिमान् ठाकुर श्रीनामधारकने यह वचन कहे—हे कृपा-वारिसागर, हे चतुर्गति रूप ससार-सागरसे तारनेके लिए यान (जहाज) रूप, हे चतुर्विध सघ-द्वारा सेवित भट्टारक श्री कमलकीर्ति देव! ससार, शरीर और भोगोसे ममता-रहित मेरा यह स्वामी श्री अमरसिंह, तत्त्व-अतत्त्व और हेय-उपादेयके जाननेकी लालसावाला है, इसलिए तत्त्वोके उपदेश द्वारा यदि इसे आप प्रबोधित करें, तो बहुत उत्तम हो! यह सुनकर आकुलित हुए अपने मनमे बार-बार विचार कर अल्पबुद्धि होते हुए भी मैने चिन्तवन किया—सर्वज्ञ-देव-द्वारा कहे गये तत्त्वोका उपदेश करनेपर मेरे महान् पुण्य होगा और उस पुण्यसे यह सारभूत तत्त्वोका उपदेश करनेवाला यह तत्त्वसार नामक शास्त्र सम्पूर्ण हो जायगा, ऐसा विचार कर मै तत्त्वसारके विस्तारावताररूप भावना ग्रन्थको करनेके लिए उद्यत हो गया।

जिन्होने इस अपार ससार-सागरके तीरको समीपवर्ती किया है, जिन्होने अपने अन्तरमे सम्पूर्ण केवलज्ञान मूर्तिरूप सर्वज्ञ महावीरको भावित किया है, जिन्होने सम्यक् प्रकार आविष्कार किये गये समयसार, चारित्रसार, पचास्तिकायसार, सिद्धान्तसार आदि ग्रन्थोके अध्ययन और अनुस्मरणसे बाह्य और आभ्यन्तर द्वादश प्रकारके दुर्धर तपोभारको स्वीकार किया है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि आठ गुणोसे अलकृत सिद्ध परमात्माके स्वभावका सम्यक् प्रकारसे अभ्यास किया है, जिन्होंने अनादि ससारवाससे सलग्न अज्ञानसे उत्पन्न हुए लोक-प्रमाण असख्यात सकल्प और विकल्पात्मक विभावोका तिरस्कार किया है, जिन्होने द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल और कलकको भस्म करनेवाले सिद्ध भगवन्तोकी द्रव्य और भावरूप स्तुति करनेकी इच्छा की है, भेदा-

१ रयधु-रचित हरिवश पुराणकी प्रशस्तिके अनुसार कमलकीर्ति सोनागिरिके भट्टारक थे। अत उसके समीपवर्ती वर्तमान शिवपुरी नगरीका ही उन्होने 'श्रीपथपुर' नामसे उल्लेख किया है।—अनुवादक

धामेन आसंसारप्रधावितमोहमहाराजशीघ्रगामितमःसग्लिलितपदगायमानाऽनादिमिथ्यादर्शनाज्ञाना-विरतिभावादिविषय कषाय — ठकपेटकदुर्जयनिर्जोयसर्वविद्वीतरागोपदिष्टागमाध्यात्मसिद्धान्त—शास्त्रावतारितोपायकृतोपयोगेन समीप्सितसाक्षादुपेयससिद्धिशिष्टाचारपरिपालन-नास्तिकतापरि-हारनिर्विघ्न-(शास्त्र)-परिसमाप्तिफलचतुष्टयेन स्वगततत्त्व-परगततत्त्वभेदभिन्न तत्त्वसाराख्य ग्रन्थमह प्रवक्ष्यामीति कृतप्रतिज्ञेन परमाराध्य-परमपूज्य-भट्टारकश्रीदेवसेनकृतसूत्रमिदं सवर्ण्यते—

मूलगाथा— झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सुतच्चसार पवोच्छामि ।। १ ।।

संस्कृतछाया—ध्यानाग्निदग्धकर्मकान् निर्मलसुविशुद्धलब्धसद्भावान् ।
नत्वा परमसिद्धान् सुतत्त्वसार प्रवक्ष्यामि ।। १ ।।

टीका—प्रवक्ष्यामि कथयिष्यामि । कम् ? तं सुतत्त्वसारम् । तद्यथा—तत्त्वमित्यादि, तस्य भावस्तत्त्वम् । 'तस्यौ भावे' इति त्वप्रत्यय. । शोभनानि च तानि तत्त्वानि सुतत्त्वानि, सुतत्त्वाना

भा० व०—मै जो देवसेननामा आचार्य हूँ सो सुदर जे तत्त्व तिनका सारकू कहूगा । कहाकरि कि उत्कृष्ट जे सिद्ध तिनकू नमस्कार करि । कैसे हैं सिद्ध ? ध्यानरूप जो अग्नि ता करि दग्ध किये है कर्म जिननैं, अर नष्ट भये है कर्ममल जातैं सो तो निर्मल कहिए अतिशय करि विशुद्ध, रागादिक दोष-रहित प्राप्त भया है सुविशुद्ध समीचीन स्वभाव जिनका, ऐसे ।।१।।

भेदरूप रत्नत्रयके अनुभव करनेसे जिनके सम्यग्ज्ञानरूप सूर्य प्रकट हुआ है, अनादि ससारसे साथ दौडनेवाले मोहमहाराजके शीघ्रगामी, मोहान्धकारसे पाद-चारी यात्रियोको निगलनेवाले ऐसे अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिभावादि विषय-कषायरूप दुर्जय ठगोके समूहको जीत कर सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा उपदिष्ट आगम और अध्यात्म सिद्धान्तशास्त्रोके अवतारके उपायमे जिन्होने अपना उपयोग लगाया है, तथा जो साक्षात् उपेय (मोक्ष) तत्त्वकी ससिद्धि, शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार और निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्तिरूप चार फलोकी प्राप्तिकी इच्छा वाले है ऐसे परम आराध्य, परम पूज्य, भट्टारक श्रीदेवसेनाचार्यने 'स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्वसे दो भेदवाले तत्त्वसार नामक ग्रन्थको मै कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र कहा है—

अन्वयार्थ—(झाणग्गिदड्ढकम्मे) आत्मध्यानरूप अग्निसे ज्ञानावरणादि कर्मोको दग्ध करने-वाले, (णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे) निर्मल और परम विशुद्ध आत्मस्वभावको प्राप्त करनेवाले (परमसिद्धे) परम सिद्ध परमात्माओको (णमिऊण) नमस्कार करके (सुतच्चसार) श्रेष्ठ तत्त्वसार-को मै देवसेन (पवोच्छामि) कहूँगा ।

टीकार्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे आत्मा सर्वप्रकारके मलोंसे रहित निर्मल और सर्व प्रकारके कलकोंसे रहित परमशुद्ध है, तथापि अनादि कालसे उसके साथ जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म लग रहे है, उनमे यह वर्तमानमे समल और अशुद्ध हो रहा है । आत्माकी इन मलिनता और अशुद्धताको शुक्ल-ध्यानरूप अग्निके द्वारा जला करके अपने निर्मल

सार' सुतत्त्वसार , तं सुतत्त्वसारम् । किं कृत्वा ? नत्वा नमस्कृत्य । कान् ? परमसिद्धान्–परा उत्कृष्टा, मा लक्ष्मीः सम्यग्ज्ञानरूपा येषा ते परमा , परमाश्च ते सिद्धाश्च परमसिद्धा , तान् परमसिद्धान् । कथभूतान् ? 'झाणग्गिदड्ढकम्मे' ध्यानमेवाग्नि' ध्यानाग्नि , ध्यानग्निना दग्धानि कर्माणि यैस्ते ध्यानाग्निदग्धकर्माण , तान् ध्यानाग्निदग्धकर्मकान् । समासान्तगंताना च राजा-दीनामदन्तत्वाद् बहुव्रीहौ समासे कप्रत्ययो वा भवति, यथा—तद्धर्मा तद्धर्मक परमस्वधर्मक. द्विमूर्द्धः त्रिमूर्द्ध इत्यादिषु अदन्तता भवति । पुनश्च किंविशिष्टान् परमसिद्धान् ? 'णिम्मलसुवि-सुद्धलद्धसब्भावे' निर्गतानि कर्ममलानि यस्मादसौ निर्मल सुविशुद्धो लब्ध प्राप्तः समीचीन' शाश्वतो वा भाव. सद्भावो यैस्ते निर्मलसुविशुद्धलब्धसद्भावास्तान्, एव गुणविशिष्टान् परमसिद्धान् नत्वा—वचनात्मकरूपेण द्रव्यस्तवेन, अन्तरङ्गे भावशुद्धचा केवलज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावस्त-वेन च स्तुत्वा सुतत्त्वसारं प्रवक्ष्यामि ॥१॥

और अति विशुद्ध स्वभावको जिन्होने प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तोको ग्रन्थकार देव-सेनने नमस्कार कर सुतत्त्वसारको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। सिद्धोके लिए उन्होने 'परम' विशेषण लगाया है। 'पर' नाम उत्कृष्टका है और 'मा' नाम लक्ष्मीका है। जिनको सम्यग्ज्ञानरूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, ऐसे परम सिद्धोको उन्होने नमस्कार किया है। 'नत्वा' इस वचनात्मक पदके द्वारा द्रव्यस्तव या द्रव्य नमस्कार किया है और केवलज्ञानादि गुणोके स्मरणरूप भावस्तव या भावनमस्कार किया है। जिनका अस्तित्व पाया जाता है उसे तत्त्व कहते है। उनमे आत्माके लिए प्रयोजनभूत तत्त्व 'सुतत्त्व' कहलाते है। ऐसे सात तत्त्वोमे उपादेय शुद्ध आत्मतत्त्व है, वही सर्व तत्त्वोमे सारभूत है, ऐसे सुन्दर तत्त्वसारको देवसेनाचार्य अपने इस ग्रन्थमे कहेगे।

विशेषार्थ—अनादि मूल मत्रमे यद्यपि अरहत परमेष्ठीको प्रथम स्थान प्राप्त है, तथापि श्री देवसेनाचार्यने उनको नमस्कार न करके इस गाथामे सिद्धोको जो नमस्कार किया है, उसका अभिप्राय यह है कि उनका उद्देश्य शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेका है, और यत सिद्ध परमेष्ठी अपने शुद्ध आत्म स्वरूपको प्राप्त कर चुके है, अत उनका स्वरूप सदा मेरे सम्मुख रहे, इसलिए उन्होने उन्हे नमस्कार किया है। इसका कारण यह है कि जो जिसके गुणोको पानेका अभिलाषी होता है, वह उसकी उपासना करता है। सिद्धोने अपना शुद्धस्वरूप किस प्रकारसे प्राप्त किया ? इसका उत्तर भी ग्रन्थकारने सिद्धोके लिए दिये गये विशेषण द्वारा प्रकट कर दिया है कि ध्यानरूपी अग्निके द्वारा आत्म-स्वरूपको आवृत करनेवाले कर्मोको जलाकर उन्होने अपना शुद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त किया है।

ध्यान क्या वस्तु है, उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? और तत्त्वसार क्या है ? इन सब प्रश्नो-का उत्तर श्री देवसेनाचार्यने अपने इस ग्रन्थमे क्रमसे दिया है। उसका सार यह है कि जिस उपायसे यह ससारी जीव सासारिक क्लेशोसे, क्लेशोके कारणभूत कर्म-बन्धनोसे और उसके कारण राग, द्वेष, मोहादि भावोसे छूटकर अपने शुद्ध वुद्ध ज्ञानानन्दमय निर्मल परम स्वभावको प्राप्त कर सदाके लिए कृतकृत्य, सुखी शुद्ध और निश्चल दशाको प्राप्त कर लेता है, वही तत्त्वसार है। उस तत्त्वसारकी प्राप्तिके लिए धर्मध्यान परम्परा कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् कारण है। इस ध्यानकी प्राप्तिके लिए बाहिरी सभी प्रकारके परिग्रहोका और भीतरी सभी प्रकारके सकल्प-

इत्युक्ते कश्चिदासन्नभव्यः प्राह—किंलक्षणं तत्त्वमिति चेत् ।

मूलगाथा—तच्च बहुभेयगय पुव्वायरिएहिं अक्खिय लोए ।
धम्मस्स वत्तणट्ठ भवियाण य बोहणट्ठ च ।। २ ।।

संस्कृतच्छाया—तत्त्वं बहुभेदगतं पूर्वाचार्यैराख्यातं लोके ।
धर्मस्य वर्तनार्थं भव्यजनप्रबोधनार्थं च ।। २ ।।

टीका—श्रीसर्वज्ञवीतरागमहावीरप्रमुखैः पूर्वाचार्यैः लोके जगति तत्त्वं प्रोक्तम् । कथम्भूतम् ? 'बहुभेयगयं' वस्तुतस्तत्त्व परमार्थरूपमेकप्रकारम् । व्यवहारेण एकधा-द्विधा-त्रिधा-चतुर्धा-पञ्चधा-षोढा-सप्तधा अष्टधा नवधा-दशधा-प्रभृतिसंख्यातासंख्यातानन्तप्रकारम् । ततो बहुभेदगतम्, बहवश्च ते भेदाश्च बहुभेदास्तान् बहुभेदान् गत प्राप्त बहुभेदगत तत्त्व कथितम् । किमर्थम् ? धम्मस्स वत्तणट्ठ' धर्मस्य वर्तनार्थम् ।

स धर्मः परमार्थेन वस्तुस्वरूप एकधा । व्यवहारेण सागारानगारधर्मभेदेन द्विविधः । रत्नत्रयात्मकस्वरूपस्त्रिविधो धर्मः । चतुर्विधाराधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र तपः-स्वरूपश्चतुर्विधश्च, धर्मार्थकाममोक्षभेदेनापि चतुर्विधः, प्रथमानुयोग करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगभेदाच्च

भा० व०—लोकविषैं पूर्वाचार्यनिनैं तत्त्व है सो बहुत भेदनिकूं प्राप्त भया कहत भये धर्मका प्रवर्तन के अर्थि । बहुरि भव्यनिका प्रबोधन जो ज्ञानकी उत्क्तिका कारण, ताकै अर्थि ॥२॥

आगैं दो प्रकार तत्त्व कहै है—

विकल्पोका त्याग आवश्यक है । जब तक इनका त्याग नही होगा, तब तक शुद्ध ध्यानकी प्राप्ति असभव है । यह सब कथन देवसेनाचार्यने इस ग्रन्थमे आगे यथास्थान किया है ।

उत्थानिका—किसी निकट भव्यने पूछा—हे भगवन् ! उस तत्त्वका क्या लक्षण है ? आचार्य इसका उत्तर देते है—

अन्वयार्थ—(लोए) इस लोकमे (पुव्वायरिएहिं) पूर्वाचार्योने (धम्मस्स वत्तणट्ठ) धर्मका प्रवर्तन करनेके लिए (च) तथा (भवियाण पबोहणट्ठ) भव्यजीवोको समझानेके लिए (तच्च) तत्त्वको (बहुभेयगय) अनेक भेदरूप (अक्खिय) कहा है ।

टीकार्थ—श्री सर्वज्ञ, वीतराग महावीर प्रमुख पूर्वाचार्योने लोक अर्थात् इस जगत्मे तत्त्व-को अनेक भेदवाला कहा है । वस्तुत परमार्थरूपसे तत्त्व एक ही प्रकार है किन्तु व्यवहारसे एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दशको आदि लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका है, इसलिए श्रीदेवसेनाचार्यने उसे 'बहुभेदगत' कहा है । अर्थात् वह तत्त्व बहुत भेदोको प्राप्त है ।

प्रश्न—पूर्वाचार्योने तत्त्वका कथन किसलिए किया है ?

उत्तर—धर्मका प्रवर्तन करनेके लिए और भव्यजीवोको प्रबोध देनेके लिए पूर्वाचार्योने तत्त्वका कथन किया है ।

वह धर्म परमार्थसे अर्थात् निश्चयनयसे वस्तुस्वरूपात्मक एक ही प्रकारका है । व्यवहार-नयसे सागार-(श्रावक-) धर्म और अनगार-(मुनि-) धर्मके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओके भेदसे वह धर्म चार प्रकारका है । अथवा धर्म, अर्थ, काम और

चतुर्विध धर्मः । आहारौषधशास्त्राभयदानविधिनापि चतुर्विधो धर्म । हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यादिपञ्चाणुव्रत-पञ्चमहाव्रतरूपेण वा पञ्चप्रकार. । षड्जीवनिकायरक्षालक्षण. षड्विध.,

'देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाना षट् कर्माणि दिने दिने ॥

इत्यादि षट्प्रकारश्च भवति ।

'द्यूत-मास-सुरा-वेश्या-पापर्द्धि-चौर्य-परदारादिसप्तव्यसनपरित्यागरूप. सप्तविधो धर्म. । जाति-कुलैश्वर्य-रूप-ज्ञान-तपोबल-शिल्पमदाष्टकत्यजनादेवाष्टधा स्यात् । मानुषी-तैरश्ची-देवीषु स्त्रीपर्यायेषु मनोवचनकाय कृतकारितानुमताब्रह्मनवविधपरित्यागमूलो नवविधो धर्म. । उत्तमक्षमामार्दवार्जव-सत्य-शौच सयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यदशप्रकारधर्मप्रतिपालनात् दशप्रकारो धर्मो भवति । एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय (जीव-) रक्षा-रूप पञ्चेन्द्रिय-विषयनिवृत्तिलक्षणोऽपि वा दशविध. । दर्शन-व्रत-सामायिक-प्रोषध-सचित्तपरित्याग-रात्रिभक्तब्रह्मचर्यारम्भत्यागपरिग्रहत्यागानुमत-रहितानुद्दिष्टाहारस्वभावैकादशगुणप्रतिपालनात् एकादशप्रकारोऽस्ति ।

तद्यथा—तत्रादौ सम्यग्दर्शन विवृणोमि—क्षयोपशम विशुद्धता-देशना-प्रायोग्य-करणलब्धि-

---

मोक्ष इन चार पुरुषार्थो की अपेक्षासे वह चार प्रकारका है। अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे धर्म चार प्रकारका है। अथवा आहार, औषध, शास्त्र और अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। हिंसा, असत्य स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पच पापोसे एक देश विरतिरूप पाच अणुव्रतोकी अपेक्षा, अथवा सर्वदेशविरतिरूप पच महाव्रतोकी अपेक्षा वह धर्म पाच प्रकारका है। पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह प्रकारके जीव-निकायकी रक्षारूपसे छह प्रकारका धर्म है। अथवा—देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये गृहस्थोके प्रतिदिन षट् कर्त्तव्य कहे गये है, उनकी अपेक्षासे वह धर्म छह प्रकारका है। (अथवा—सामायिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, आलोचन और कायोत्सर्ग, मुनियोके इन छह आवश्यकोकी अपेक्षा धर्म छह प्रकारका है) यह इत्यादि पदसे सूचित किया गया अर्थ है।

द्यूत (जुआ), मास, सुरा (मदिरा), वेश्या, पापर्द्धि (शिकार) चोरी, और पर-दारागमन आदि सप्त व्यसनोके परित्यागरूपसे सात प्रकारका धर्म है। जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, वल और शिल्प, इन अष्ट मदोके त्यागरूपसे धर्म आठ प्रकारका है। मानुषी, तिर्यंचिनी, देवीरूप स्त्री पर्यायोमे मन वचन काय द्वारा कृत, कारित और अनुमोदनारूप नौ प्रकारके अब्रह्मत्यागरूपसे नौ प्रकारका धर्म कहा गया है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश प्रकारोके धर्मोको पालन करनेसे धर्म दश प्रकारका है। अथवा—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, इन पॉच प्रकारके जीवोकी रक्षा करनेसे, तथा पाच इन्द्रियोके विषयोका त्याग करनेसे दश प्रकारका कहा गया है। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-परित्याग, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और अनुद्दिष्ट आहारस्वरूप ग्यारह गुणो (प्रतिमाओ)के परिपालनसे वह धर्म ग्यारह प्रकारका है।

उनमेसे आदिमे दर्शन प्रतिमावालेको जिस सम्यग्दर्शनका धारण करना आवश्यक है,

पञ्चकवशादुत्पद्यते सम्यग्दर्शनम्। तथा चोक्तम्—

खयउवसमण-विसोहि य देसण-पाओग्गकरणलद्धीहि।
चत्तारि वि सामण्णा करणे सम्मत्त-चारित्तं॥ १॥

तथाहि—ज्ञानावरणादीनां घातिकर्मणां क्षयोपशमो भावः, विकारकरकलुषितभावाभावात् परिणामविशुद्धता, सर्वज्ञोक्तसन्मार्गक्रमोत्पन्नभेदाभेदरत्नत्रयाराधकपरमगुरूपदेशाद्देशना च, मिथ्यादर्शनाद्यष्टकर्मणां सप्तति-विंशतित्रिंशत्कोटाकोटिसागरस्थितीनां यदा लघुस्थितिगतानामेककोटाकोटिमध्यभूतानां लघुता भवति तदा प्रायोग्यलब्धिः स्यात्। एताश्चतस्रो लब्धयः सामान्यरूपाः, यतोऽनेकशः प्राप्ताः। करणलब्धौ सत्यां तु सम्यग्दर्शनं स्यात्। करणलब्धिस्तु अधःकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं चेति। तत्सम्यग्दर्शनं पञ्चविंशतिदोषरहितमुक्तं पूर्वाचार्यैः। ते दोषाः के? मूढत्रयादयः। उक्तं च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥

उसका स्वरूप-विवरण करते हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि इन पाँच लब्धियोंके द्वारा सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जैसा कि कहा है—

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये चार सामान्य लब्धियाँ हैं, जो कि भव्य और अभव्योंके लिए समान हैं। किन्तु करणलब्धि भव्य जीवके ही होती है और उसके होनेपर ही सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त होता है॥१॥

इन लब्धियोंका अर्थ इस प्रकार है—सम्यक्त्व-प्राप्तिके योग्य ज्ञानावरणादि घाति-कर्मोंका क्षयोपशम भाव होना क्षयोपशमलब्धि है। आत्मामें विकार उत्पन्न करनेवाले कलुषित भावोंका अभाव होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आना विशुद्धिलब्धि है। सर्वज्ञ-भाषित सन्मार्ग-प्राप्तिके क्रमसे उत्पन्न हुए भेद-अभेद रूप रत्नत्रयके आराधक परम गुरुके उपदेशकी प्राप्ति होना देशनालब्धि है। मिथ्यादर्शन आदि आठ कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति सत्तर, बीस, तीस और तेतीस कोडाकोडी सागरोपम कही गई है—अर्थात् दर्शनमोहनीयकी ७० कोडाकोडी, चारित्रमोहनीयकी ४० कोडाकोडी, नाम-गोत्र कर्मकी २० कोडाकोडी, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी ३० कोडाकोडी और आयुकर्मकी ३३ सागरोपम-प्रमाण स्थितिमें स्थित कर्मोंकी सत्ता घटकर एक कोड़ाकोड़ीके मध्यगत अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण लघु स्थिति रह जावे तब प्रायोग्यलब्धि होती है। ये चार लब्धियाँ सामान्यरूप हैं, क्योंकि वे अनेक बार प्राप्त हो चुकी हैं। किन्तु करणलब्धिके होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। यह करणलब्धि अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन परिणाम-विशेषोंकी प्राप्तिरूप है। इन करण-परिणामोंके होनेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। वह सम्यग्दर्शन पहली दर्शन-प्रतिमामें पच्चीस दोषोंसे रहित होना आवश्यक है, ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है।

प्रश्न—वे पच्चीस दोष कौनसे हैं?

उत्तर—तीन मूढता आदि। जैसा कि कहा है—

तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंकादिक, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहे गये हैं॥

तत्सम्यक्त्वं व्यवहार-निश्चयभेदेन द्विविधम्, उपशम-क्षयोपशमक्षायिकरूपेण त्रिविधम्। तथाहि-तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति व्यवहारसम्यक्त्वम्। उक्तं च—

नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दया विना।
तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥३॥

द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलकलङ्करहितपरब्रह्मपरमात्मसदृशनिजात्मश्रद्धानं रुचिः प्रतीतिः निश्चय आस्तिक्यमिति नानाशब्दानामेकार्थं एव हि ज्ञातव्यस्तत्त्वविद्भिरिति निश्चयसम्यक्त्वम्।

अप्रत्याख्यान-क्रोध-मान-माया-लोभानां कषायचतुष्टयानामुपशमे सति निर्विकारकर्माञ्जन-रहित-निर्विकल्परागादिरहितैकदेशात्मानुभूतिलक्षणस्यान्तरङ्गे बहिरङ्गे चैकदेशेन षड्जीवनिकायाना मध्ये द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियरूपत्रसजीवरक्षणलक्षणस्य निरतिचारेण मकार-त्रय-पञ्चफलोदुम्बरादिसप्तव्यसनपरित्यागरूपस्य जीवस्य दर्शनप्रतिमा प्रथमा भवति। तथा चोक्तम्—

अट्ठइ पालइ मूलगुण, विसणु ण एक्कइ होइ।
सम्मत्ते सुविसुद्धमइ पढमउ सावइ सो जि[1] ॥४॥

यह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकके रूपसे तीन प्रकारका है। अब इनका स्वरूप कहते हैं—जीवादि तत्त्वोके यथार्थ स्वरूप-का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, यह व्यवहार सम्यक्त्वका स्वरूप है। कहा भी है—

अरहन्त देवसे श्रेष्ठ अन्य कोई देव नही है, दया धर्मसे बढकर अन्य कोई धर्म नही है और निर्ग्रन्थतासे उत्कृष्ट अन्य कोई तप नही है, इस प्रकारका दृढश्रद्धान होना, यही व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण है ॥३॥

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल एव कलकसे रहित परमब्रह्म, परमात्मा-[illegible] निज आत्माका श्रद्धान, रुचि, प्रतीति, निश्चय और आस्तिक्य बुद्धि होना—इन सभी [illegible] शब्दोका एक ही अर्थ तत्त्ववेत्ताओको जानना चाहिए—निश्चय सम्यक्त्व है।

इत्युक्तलक्षणा प्रथमप्रतिमा-श्रावकधर्मोऽस्ति । १

तथा द्वितीयव्रतप्रतिमा । तथा हि—एकदेशेन हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः पञ्चपापेभ्यो विरतिलक्षणानि पञ्चाणुव्रतानि, दिग्विरति-देशविरति-जीवाहारि-जीवसारयुरादि(?)रूपानर्थदण्ड-विरतिरूपाणि त्रिगुणव्रतानि सामायिक-प्रोषधोपवास-भोगोपभोगसख्याऽतिथिसविभागान्तसल्लेखना-लक्षणानि चत्वारि शिक्षाव्रतानीति द्वादशव्रतपालनरूपा व्रतप्रतिमा २ ।

पूर्वाह्लिक-मध्याह्निकाऽपराह्लिककालेषु श्रीसर्वज्ञवीतरागचैत्यालये स्वगृहप्रतिमाग्रे वा पूर्वदिशि कायोत्सर्गेण पद्मासनयोगेन वा आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणसामायिकक्रियानुरूपा तृतीया प्रतिमा ३ ।

शुक्ल-कृष्णाष्टमी-चतुर्दशीचतुष्के पर्वनियमेन चतुर्थोपवासलक्षणा प्रोषधप्रतिमा चतुर्थी भवति ४ । सचित्तवस्तुत्यागरूपा पञ्चमी प्रतिमा ५ । दिवाब्रह्मचर्य-रात्रिभक्तस्वरूपा षष्ठी प्रतिमा ६ । सर्वथाऽब्रह्मनिवृत्तिरूपा ब्रह्मचर्यप्रतिपालनलक्षणा च सप्तमी ब्रह्मप्रतिमा भवति ७ । पापारम्भपरित्यक्तशीलाऽष्टमी आरम्भत्यागरूपा प्रतिमा ८ । स्वशरीरप्रयोगिवस्त्राहारमात्र-परिग्रहरूपाऽपरपरिग्रहपरित्यागलक्षणा हि नवमी प्रतिमा स्यात् ९ । पापानुयायिकार्यानुमतिरहिता धर्मानुमतिसहिता वाऽनीहितवृत्त्योपासकगृहे स्वीकृताहाररूपा दशमी अनुमतिप्रतिमा कथ्यते १० ।

इस प्रकार ऊपर जिसका स्वरूप कहा गया है, उस प्रकारसे उसे धारण करना प्रथम-प्रतिमारूप श्रावकधर्म है १ ।

तथा दूसरा व्रत-प्रतिमारूप श्रावकधर्म इस प्रकार है—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पाच पापोसे एकदेश विरतिरूप पाच अणुव्रत, दिग्विरति, देशविरति और जीवोका आहार (भक्षण) करनेवाले बिल्ली-कुत्ता आदि हिंसक जीवोका सरक्षण-पालन-पोषणादि करने, अस्त्र-शस्त्र देने और पाप कार्योके उपदेशरूप अनर्थ दडोकी विरतिरूप तीन गुणव्रत तथा सामा-यिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग सख्यान और अतिथिसविभागरूप चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोका पालन करना और जीवनके अन्तमे सल्लेखना धारण करना यह दूसरी व्रतप्रतिमा है २ ।

प्रात काल, मध्याह्न काल और सायकालमे भी सर्वज्ञ वीतरागदेवके चैत्यालयमे अथवा अपने घरमे विराजमान जिन-प्रतिमाके आगे पूर्व दिशामे (अथवा उत्तर दिशामे) मुख करके कार्योत्सर्गसे (खडे होकर) अथवा पद्मासनयोगसे (बैठकर) आर्त और रौद्रध्यानके परित्यागस्वरूप सामायिककी विधि-पूर्वक क्रिया करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है ३ ।

प्रत्येक मासकी शुक्ला-कृष्णा अष्टमी और चतुर्दशी इन चारो पर्वोमे नियमसे चतुर्थ भक्तरूप उपवास करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है ४ । सचित्त वस्तुके खाने-पीनेका त्यागरूप पाचवी सचित्तत्याग प्रतिमा है ५ । दिनमे ब्रह्मचर्यका पालन करनेरूप रात्रिभक्त नामकी छठी दिवामैथुन-त्याग प्रतिमा है ६ । अब्रह्म (कुशील) सेवनका सर्वथा नौ बाढरूपसे निवृत्ति करके ब्रह्मचर्यके प्रतिपालन स्वरूप सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ७ । पापरूप आरम्भोका सर्वथा परित्याग करना आठवी आरम्भत्याग प्रतिमा है ८ । अपने शरीरके उपयोगमे आनेवाले वस्त्रोका और आहार-पानका परिग्रह रखकर अन्य समस्त प्रकारके परिग्रहका त्याग कर देना नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमा है ९ । पापोके अनुयायी कार्योकी अनुमति नही देना, धार्मिक कार्योकी अनुमति देना तथा अनी-हित वृत्तिसे अर्थात् आकाक्षा रहित होकर उपासक (श्रावक) के घरमे आहारको स्वीकार करना

स्वीकृतोत्तमश्रावकव्रताकृतकारितानुमताहारमङ्गीकृतसंयमासंयमपरिणामाऽनुद्दिष्टाहारस्वरूपा चैकादशी प्रतिमा ११। इत्येकादशप्रतिमागतजघन्य-मध्यमोत्तमश्रावकविभेदभिन्न एकादशविधो धर्मः ११।

द्वादशधा धर्माः कथ्यन्ते। तद्यथा–अनशनादिबाह्याभ्यन्तरतपोभेदात्। तत्र षट् प्रकारं वाह्यं तप। न अशन अनशनमुपवास. प्रथमं वाह्य तप १। एकग्रासाद्येकग्रासन्यूनमाहारादिकं यत्र गृह्यते तदवमोदर्यं द्वितीय वाह्य तप २। सागारापेक्षया वस्तुसख्यारूपं एकवस्त्वादिग्रहणं वृत्तिपरिसंख्यानं तप। अनगारापेक्षया एकहाटचर्धग्रामपर्यन्तमटनं भिक्षार्थ यत्र तद वृत्तिपरिसंख्यानं तृतीय वाह्य तप. ३। मधुर-कटुकाम्लकषायतीक्ष्णरसपञ्चाना दुग्ध-दधि-घृतेक्षुरस-तैललवण-षड्रसाना वा मध्ये एकरसग्रहणमन्यरसत्यजनमुत्कृष्टं रसपरित्यागतप। जघन्यपञ्चरसग्रहणमेकत्यागाख्यं चतुर्थ वाह्यं तपः ४। स्त्री-पुन्नपुंसकतिर्यग्गतिजीवरहितस्थाने शयनासनादिक यत्र क्रियते तद्विविक्तशय्यासननामधेय पञ्चमं वाह्यं तपः ५। चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादश-चतुर्दश-पाक्षिक-मासिकोपवासाऽऽतापनयोगादिसहनं कायक्लेशाख्यं वाह्य तपः ६।

दशवी अनुमति (त्याग) प्रतिमा कही जाती है १०। उत्तम श्रावकके व्रतोको स्वीकारकर कृत, कारित और अनुमतिसे रहित आहारको अगीकार करना तथा सयमासयम परिणामरूप और अनुद्दिष्ट आहारस्वरूप ग्यारहवी उद्दिष्टाहार त्याग प्रतिमा है ११। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओमे आदिकी छह प्रतिमाओके पालनेवाले जघन्य श्रावक हैं। मध्यकी तीन प्रतिमाओका पालन करनेवाले मध्यम श्रावक हैं और अन्तिम दो प्रतिमाओके पालनेवाले उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावकके भेदवाला यह ग्यारह प्रकारका श्रावकधर्म है ११।

अव वारह प्रकारका धर्म कहते हैं—वह वाह्य और आभ्यन्तर तपके भेदसे मूलमे दो प्रकारका है। उनमे वाह्य तप छह प्रकारका है—अशन (भोजन) न करनेको अनशन (अर्थात् उपवास) कहते है। यह पहिला वाह्य तप है १। पुरुषका जो स्वाभाविक आहार है उसमें एक, दो, चार आदि ग्राससे न्यून आहार आदिको ग्रहण करना दूसरा अवमोदर्य वाह्यतप है २। सागार (श्रावक) की अपेक्षा वस्तुकी सख्यारूप एक दो वस्तु आदिको ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यान तप है। अनगार (मुनि) की अपेक्षा एक गली, दो गली आदि अर्धग्राम पर्यन्त भिक्षाके लिए घूमना वृत्तिपरिसख्यान नामक तीसरा वाह्य तप है ३। मधुर (मीठा) कटुक, आम्ल (खट्टा) कषाय (कसैला) और तीक्ष्ण (चपरा) रूप पाच रसो अथवा दूध, दही, घी, इक्षुरस, तैल और लवण (नमक) इन छह रसोमेसे एक रसको ग्रहण करना और अन्य रसोका त्याग करना उत्कृष्ट रसपरित्यागतप है। पाच रसोको ग्रहण करना और एक रसका त्याग करना जघन्य रस परित्याग तप है। (दो-तीन आदि रसोको ग्रहण करना और शेषका त्याग करना मध्यम रसपरित्याग तप है।) यह रसपरित्याग नामक चौथा वाह्य तप है ४। स्त्री, पुरुष, नपुसक, और तिर्यच गति जीवोसे रहित एकान्त स्थानमे शयन-आसन आदि करना विविक्तशय्यासन नामका पाचवा वाह्य तप है ५। चतुर्थ भक्त (एक उपवास) षष्ठभक्त (दो उपवास) अष्टमभक्त (तीन उपवास) दशमभक्त, द्वादशभक्त चतुर्दश भक्त, पाक्षिक, मासिक उपवासोसे तथा आतापन और योगादि

षड्-विधमन्तरङ्गं तप । तथाहि—अनाद्यज्ञानभावेनोपार्जितपापकर्मणा शोधनं जिनोक्तयुक्त्या यत्क्रियते तत् प्रायश्चित्ताख्यमान्तरं प्रथमं तप १ । सम्यग्दर्शनविनय-सम्यग्ज्ञानविनय-सम्यक्चारित्रविनय-तदाराधकपुरुषोपचारविनयभेदेन चतुर्विध विनयाख्यमान्तरम् द्वितीय तप २ । आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसघसाधुमनोज्ञाना वात्सल्यभेदेन दशविध तृतीयमान्तरं वात्सल्याख्यं तपः ३ । वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशादिविकल्पात्पञ्चप्रकार स्वाध्यायनामधेयमान्तरं चतुर्थं तप ४ । बाह्याभ्यन्तरशरीर-रागद्वेषादित्यजन पञ्चममान्तर व्युत्सर्गाख्य तप. ५ । पदस्थ पिण्डस्थ-रूपस्थ-रूपातीत-भेदेन धर्मध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार-एकत्ववितर्कावीचार-सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवृत्तीनीत्यादिशुक्लध्यानमितिभेदेनान्तरं षष्ठ ध्यानाख्यं तप. ६ । इति बाह्याभ्यन्तरद्वादशधातपोभेदेन द्वादशविधस्तपोधम. स्यात् १२ ।

त्रयोदशधा चारित्रम् । तत्र पञ्चमहाव्रतानि पूर्वोक्तानि । समितय. पञ्च । तद्यथा—सूर्योदयास्तमनयोर्मध्ये मार्गे प्रवर्तिते युग प्रमाणं निरीक्ष्य गम्यते यत्र देववन्दनानिमित्तं गुरूणा वा पादपद्म नमस्कर्तुं सा ईर्यासमिति १ । दृष्टश्रुतानुभूतप्रत्यक्षेण धर्मोपदेशनिमित्त कथ्यते यत्र सा भाषासमितिः २ । जिनोक्तपिण्डशुद्धया निरीक्ष्य भुङ्क्ते यत्र सा एषणासमिति ३ । ज्ञानसयमोपकरणानि पुस्तक-कुण्डिकादीनि दृष्ट्या प्रतिलेख्य गृह्यते निक्षिप्यते वा यस्मिन् सा आदान-

---

अन्तरग तप भी छह प्रकारका है—अनादिकालिक अज्ञानभावसे उपार्जित पापकर्मोका शोधन जिन-प्ररूपित योग्य विधिसे जो किया जाता है, वह प्रायश्चित्त नामका पहिला अन्तरग तप है १ । सम्यग्दर्शनकी विनय, सम्यग्ज्ञानकी विनय, सम्यक्चारित्रकी विनय, और रत्नत्रयके आराधक पुरुषोकी विनयरूप उपचार विनयके भेदसे चार प्रकारका विनय नामक दूसरा अन्तरग तप है २ । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ मुनियोकी वात्सल्य (या वैयावृत्त्य) के भेदसे वात्सल्य (या वैयावृत्त्य) नामका तीसरा अन्तरगतप है ३ । वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश आदिके भेदसे पाच प्रकारका स्वाध्याय नामक चौथा अन्तरगतप है ४ । बाह्यमे शरीरसे ममत्वका त्याग करना और अन्तरगमे राग-द्वेषादि भावोका त्याग करना व्युत्सर्ग नामका पाचवा अन्तरग तप है ५ । पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे चार प्रकारका धर्मध्यान करना, तथा पृथक्त्वविनर्क वीचार, एकत्व वितर्क-अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन चार प्रकारका शुक्लध्यान करना, इस प्रकार धर्मध्यान शुक्लध्यानरूप छठा ध्याननामका अन्तरग तप है ६ ।

इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तररूप बारह प्रकारके तपोके भेदसे तपोधर्म बारह प्रकारका हे १२ ।

चारित्र रूप धर्म तेरह प्रकारका है । उनमेसे पाच महाव्रत पूर्वमे कहे गये हैं । पाच समितिया इस प्रकार है—सूर्योदयके पश्चात् और सूर्यास्तके पूर्व मध्यवर्ती कालमे मार्गके जनसचार युक्त होनेपर देववन्दनाके निमित्त या गुरुजनोके चरण-कमलोको नमस्कार करनेके लिए युगप्रमाण (चार हाथ) भूमिको (नासादृष्टिसे) देखते हुए गमन करना पहिली ईर्यासमिति है १ । दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और प्रत्यक्षसे धर्मोपदेशके निमित्त हित, मित, प्रिय वचन बोलना दूसरी भाषासमिति हे २ । जिनभाषित पिण्डशुद्धि-पूर्वक अन्न-पानको भलीभातिसे देखकर भोजन-पान करना तीसरी एषणासमिति है ३ । ज्ञान और सयमके उपकरण पुस्तक, कमण्डलु आदिको आखसे भलीभाति

निक्षेपणसमितिः ४। निर्जन्तुके स्थाने शुद्धे प्रासुके चावलोक्य मलमूत्रश्लेष्मनिष्ठीवनादिकं त्यज्यते यत्र सा व्युत्सर्गसमितिः ५। मनोगुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्तित्रयं ३ इति त्रयोदशप्रकारं चारित्रं त्रयोदशविधो धर्मः। अथवा समता-स्तुति-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्गविकल्पात् षडावश्यकानि ६। नमस्काराः पञ्च। असिहिका-निषिहिके द्वे २। इति त्रयोदशक्रियास्वरूपो धर्मः।

एकेन्द्रियसूक्ष्म-बादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय-संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तभेदेन रक्षणं यत्रासौ जिनोक्तश्चतुर्दशविधो धर्मः। चतुर्दशगुणस्थानरूपेण वा। तद्यथा—तथा चोक्तं गोम्मटसारशास्त्रे श्री गोम्मटेन्द्रे—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व-अणियट्टि-सुहुमो य॥१॥
उवसंत-खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य।
चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥२॥
मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं॥३॥

तथाहि—

विपरीततत्त्वश्रद्धानं सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-बौद्ध-चार्वाकादिपञ्चप्रकारमिथ्यात्वं वा यत्र तन्मिथ्यात्वगुणस्थानम् १।

तथाहि—अस्त्येव, नास्त्येव, नित्यमेव, अनित्यमेव, एकमेवानेकमेव, तत्त्वमित्यादि सर्वथा अवधारणरूपोऽभिप्राय एकान्तमिथ्यात्वं नाम १। अहिंसादिलक्षण-सद्धर्मफलस्य स्वर्गापवर्गस्य हिंसादिपापफलत्वेन परिच्छिन्दानोऽभिप्रायो विपरीतमिथ्यात्वम् २। सम्यग्दर्शनादिनिरपेक्षेण देव-गुरुपादपूजादिलक्षणेन विनयेनैव मोक्ष इत्यभिप्रायो वैनयिकमिथ्यात्व नाम ३। प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन परिगृह्यमानस्यार्थस्य देशान्तरे कालान्तरे चैव स्वरूपावधारणोपपत्तेस्तत्स्वरूपनिरूपकानामाप्तानामभिमानदह्यमानानामपि परस्परविरुद्धशास्त्रोपदेशकानामवञ्चकत्वनिश्चयाभावादिदमेव तत्त्वमिद न भवतीति परिच्छेत्तुमशक्यमित्युभयाशावलम्बनाभिप्राय सशयमिथ्यात्व नाम ४। विचार्यमाणे जीवादिपदार्था न तिष्ठन्ति, ततः सर्वमज्ञानमेव, ज्ञानं नास्तीत्यभिनिवेश-अज्ञानमिथ्यात्व नाम ५।

एय त बुद्धदरिसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ।
इदो विय संसइयो मक्कडिको चेव अण्णाणी ॥८॥
मिच्छत्तं वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि।
ण य धम्म रोचेदि हु महुरं खु रस जहा जरिदो ॥९॥
मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयण ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठ वा अणुवइट्ठं च ॥१०॥

एकान्त आदि मिथ्यात्वोका खुलासा इस प्रकार है—वस्तु तत्त्व अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, एक ही है, अनेक ही है, इत्यादि सर्वथा 'ही' इस अवधारणारूप अभिप्रायका नाम एकान्त मिथ्यात्व है १। स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति अहिंसादि लक्षणवाले सद्-धर्मका फल है उसे हिंसादि पापरूप यज्ञादिका फल माननेका अभिप्राय विपरीत मिथ्यात्व है २। सम्यग्दर्शनादिसे निरपेक्ष देव-पूजा, गुरु-पाद-पूजा आदि रूप विनयसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकारका अभिप्राय वैनयिक मिथ्यात्व है ३। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे ग्रहण किये गये पदार्थका देशान्तर और कालान्तरमे तथैव स्वरूप प्राप्त होनेपर उसका निश्चय हो सकता है। किन्तु वस्तुके स्वरूपका निरूपण करनेवाले, 'मैं आप्त पुरुष हूँ' इस प्रकार के अभिमानसे जलनेवाले और परस्पर विरुद्ध शास्त्रोपदेश करनेवाले पुरुषोकी अवचकताके निश्चय न होनेसे 'यह तत्त्व है' और 'यह तत्त्व नही है' ऐसा निश्चय करना अशक्य है, इस प्रकारसे उभय कोटिके अवलम्बनरूप अभिप्रायका नाम सशयमिथ्यात्व है ४। तर्कसे विचार करनेपर जीवादि पदार्थ सिद्ध नही होते है, अत सर्व वस्तु अज्ञानरूप ही है, ज्ञानरूप कोई वस्तु नही है, इस प्रकारका अभिनिवेश रखना अज्ञानमिथ्यात्व है ५।

बुद्धदर्शी (बौद्ध आदि मतवाले) एकान्त मिथ्यात्वी हैं, ब्रह्म (पशुयज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि) विपरीत मिथ्यात्वी हैं। तापस आदि विनय मिथ्यात्वी है। इन्द्र आदि आचार्य सशयमिथ्यात्वी है और मस्करी आदि अज्ञानमिथ्यात्वी है ॥८॥ मिथ्यात्वकर्मका वेदन करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। जिस प्रकार पित्तज्वरवाले पुरुषको मधुर (मीठा) रस नही रुचता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीवको [illegible] धर्म नही रुचता है ॥९॥ मिथ्यादृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट-प्रवचन का श्रद्धान नही करता है [illegible] मिथ्यात्वीजनोंके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असत्यार्थ

इत्यादि मिथ्यात्वगुणस्थानम् १ ।

अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभान्यतरोदएण प्रथमोपशमसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादनगुणस्थानम् । उक्तं च गोम्मटसारे—

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेदव्वो ॥११॥

दर्शनमोहनीयमिश्रप्रकृत्युदयेन मिश्रभाव दधि-गुडमिश्रभाववत् श्रद्धत्ते सम्यग्मिथ्यात्व-गुणस्थानम् ३ ।

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥१२॥

यत्र सम्यक्त्वभावे मिथ्यात्वभावे वा पूर्वमायुर्बद्धं तत्रैव गुणे म्रियते नियमात् ।

अनाद्यनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्वप्रकृति - सम्यक्त्वप्रकृति- सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतीति सप्तप्रकृतीनामुपशमाद् उपशमसम्यक्त्व भवति । सम्यक्त्वप्रकृत्युदयात् क्षयोपशमसम्य-क्त्व भवति षण्णामुदयाभावाच्च । सप्ताना प्रकृतीना क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं स्यात् । इति

द्वितीयकषायाप्रत्याख्यानचतुष्कोदयात्संयमाभावादसंयतसम्यग्दृष्टिः स्वीकृतसर्वज्ञवीतरा-

---

इत्यादि प्रकारसे मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप जानना चाहिए ।

अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषायमेसे किसी एकके उदयसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे पतित हुआ जीव जवतक मिथ्यात्वको प्राप्त नही होता है, तबतककी अन्तरालवर्ती अवस्थावाला वह जीव सासादन गुणस्थानी है । जैसा कि गोम्मटसारमे कहा है—

सम्यग्दर्शन रत्नरूप पर्वतकी शिखरसे गिरा हुआ और मिथ्यात्वरूपी भूमिके सम्मुख हुआ, तथा जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो चुका है, ऐसा जीव सासादन नामक दूसरे गुणस्थानवाला जानना चाहिए ॥११॥

दर्शन मोहनीयकी मिश्र प्रकृतिके उदयसे दही-गुडकी मिश्रताके समान जो सम्यक्त्व और यिथ्यात्वकी मिश्र अवस्थाको धारण करता है, वह मिश्रगुणस्थानवाला जीव है ३ ।

यह मिश्र गुणस्थानी जीव न सकल सयमको ग्रहण करता है, न देशसयमको ही धारण करता है और न आयुकर्मको ही वाधता है । किन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्व जिस दशामे पहिले आयुको वाधा है, उसी सम्यक्त्व या मिथ्यात्व गुणस्थानको नियमसे प्राप्त होकर मरता है ॥१२॥

जिस सम्यक्त्वभावमे अथवा मिथ्यात्वभावमे पहिले आयुको बाधा है उसी गुणस्थानमे जाकर नियमसे मरता है ।

अनादिकालसे सलग्न अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कपाय, मिथ्यात्वप्रकृति सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोके उपशमसे उपशमसम्यक्त्व होता है । सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे और शेप छह प्रकृतियोके उदयाभावसे क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है । सातो ही प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है ।

दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्कके उदयसे सयम न होनेके कारण वह सम्यग्दृष्टि

गोक्तजीवाजीवादितत्त्वः कर्ममलकलङ्करहितपरमात्मसमानात्मस्वरूपकृतोपादेयबुद्धि॰ अविरत-भावोदयात् तलवरगृहीततस्करवत् प्रवृत्तपञ्चेन्द्रियविषय सम्यग्ज्ञानवैराग्ययुक्त, निःशङ्काद्यष्टाङ्गसम्यक्त्वगुणलाङ्कृत॰ अन्तरङ्गकृतसयमपरिणामोद्यमः आज्ञाविचयापायविचय-विपाकविचय-सस्थानविचयलक्षणधर्मध्यानकृताभ्यास॰। एवविधपरिणामपरिणतोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्त्ती भवति।

तत्रोपशम-क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्वत्रयाणा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन स्थितिमाह्––उपशमस्य जघन्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्ता स्थितिः। क्षयोपशमस्य जघन्यान्तर्मुहूर्ता स्थिति । उत्कृष्टेन षट्षष्ठिसागरोपमा च। क्षायिकस्योत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा कतिपयवर्षकोटिपूर्वाधिका स्थिति॰। जघन्येनान्तर्मुहूर्ता च ससारापेक्षया। उक्तं च—

णो इदिएसु विरदो जीवे थावर-तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥१३॥

अथ प्रत्याख्यानावरणतृतीयकषायचतुष्कोदयाद्देशसयतो भवति। तथाहि—वाह्यो निरतिचारत्रसजीवकृतरक्ष कार्यवशात् स्थावरजीववधेषु प्रवृत्तोऽन्तरङ्गे जिनसर्वज्ञोक्तशुद्धवुद्धकर्माञ्जनविनिर्मुक्तरागादिरहितैकदेशभावितात्मानुभूति, उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्वविराजमानः

असयत कहलाता है। वह सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोको स्वीकार करता है, कर्म-मल-कलकसे रहित सिद्ध परमात्माके समान अपने आत्मस्वरूपमे उपादेयवुद्धि रखता है, अविरत-भावके उदयसे हेय जानते हुए भी पचेन्द्रियोके विषयोमे प्रवृत्त रहता है। जैसे कोतवालके द्वारा पकडा गया चोर चोरीको बुरा जानता हुआ और अपनी निन्दा करता हुआ भी अवसर पाते ही पुन चोरी करने लगता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान और वैराग्यसे सयुक्त होता है, नि शकित आदि आठ अगरूप सम्यक्त्वके गुणोसे अलकृत होता है, अन्तरंगमे सयम धारण करनेके परिणामोमे उद्यमी रहता है, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय-रूप धर्मध्यानोका अभ्यास करता है। इस प्रकारके परिणामोसे युक्त जीव अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होता है।

अब इन उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इन तीनो सम्यक्त्वोकी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदरूप स्थिति कहते है—उपशमसम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। क्षयोपशमसम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अ तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छयासठ सागरोपम है। क्षायिककी जघन्य स्थिति ससारकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ पूर्वकोटी वर्षसे अधिक तेतीस सागरोपम है। (सिद्धोकी अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति अनन्तकाल है।) कहा भी है—

जो जीव इन्द्रियोके विषयोसे विरत नही है, तथा त्रस और स्थावर जीवोके घातसे भी विरत नही है। किन्तु जो जिनदेव-कथित तत्त्वोका श्रद्धान करता है, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥१३॥

अव पचम गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्कके उदय से जीव देशसयमका धारक होता है। यह देशसयत वाहिरमे निरतिचार त्रसजीवोकी रक्षा करता है, कार्यके वशसे स्थावर जीवोके घातमे प्रवृत्त होता है, अन्तरगमे सर्वज्ञ जिनदेवप्ररूपित शुद्ध, वुद्ध, कर्मरूप अजनसे विमुक्त, रागादि भावोसे रहित, एक देश शुद्ध आत्मानुभूतिसे भावित

कोपीन-कमण्डलुभिक्षापात्रैकपट्टवस्त्रमात्रपरिग्रह., दर्शन-व्रत-सामायिक-प्रोषधोपवास-सचित्तत्याग-रात्रिभक्त-ब्रह्मचर्यारम्भत्याग-परिग्रहत्यागाननुमत्यनुद्दिष्टाहारलक्षणैकादशप्रतिमाकृतनिवास सयतासयतपञ्चमगुणस्थानवर्ती भवति । तथाहि—

जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥१४॥

अथ चतुर्थकषायसज्वलनचतुष्कतीव्रोदयेन विरतप्रमत्ताख्यषष्ठगुणानुयायिनो भवति । तथाहि—प्रवृत्तव्यक्ताव्यक्तप्रमादोदया, भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गानुभवस्फुरितप्रभावा, त्रसस्थावररक्षण-लक्षणसकलचारित्रविराजमाना, रूपस्थ-रूपातीतधर्मध्यानपरायणा एवविधा विरतप्रमत्ताख्या । प्रमादा कथ्यन्ते—

चतस्रो विकथा ज्ञेया कषाया हि चतुर्विधा ।
करणानि च पञ्चैव निद्रा स्नेहो प्रमादिनाम् ॥१५॥

इति श्लोककथितक्रमेण प्रमादा पञ्चदश । तत्र व्यक्ताव्यक्तरूपा षष्ठगुणवर्तिनो भवन्ति । उक्त च—

होता है, उपशम, क्षमोपशम और क्षायिक इन तीनमेसे किसी एक सम्यक्त्वसे विराजमान होता है, कौपीन (लगोटी), कमण्डलु, भिक्षापात्र और एक पटमात्र वस्त्रका परिग्रह रखनेवाला उत्कृष्ट श्रावक होता है, तथा दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अननुमति और अनुद्दिष्ट आहारको ग्रहण करने रूप ग्यारह प्रतिमाओंमे निवास करनेवाला जाव सयतासयत नामक पचम गुणस्थानवर्ती होता है । जैसा कि कहा है—

जो त्रस जीवोके वधसे विरत है, तथा स्थावर जीवोके वधसे अविरत है, किन्तु जिन भगवान्मे ही अपनी श्रद्धा बुद्धि रखता है, वह एक समयमे एक साथ ही 'विरताविरत' कहलाता है ॥१४॥

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥१६॥

अथाप्रमत्तगुणस्थानर्वातन सज्वलननोकषायमन्दोदयप्रर्वातन भवेयुरप्रमत्ताख्यानगुणस्थान यदा तदा। बाह्ये पूर्वोक्तसम्यक्त्वत्रिविधैकतमपूर्वकसकलचारित्रनिरतिचारधारिणोऽन्तरङ्गे रूपातीतधर्मध्यानानुकोटिर्वात्तिनो निर्जितेन्द्रियविषय तीव्रकषाया द्रव्यश्रुताभ्यासकौशल्याविष्कृतात्मोत्थस्वसवेदनज्ञानानुभूतिशक्तय:, एवविधा अप्रमत्तसप्तमगुणस्थानर्वात्तिनो भवन्ति। (७)

अथ सज्वलन-नोकषायमन्दतरोदये सति अध करणप्रवृत्तौ आन्तर्मुहूर्तकाल स्थित्वा अपूर्वापूर्वपरिणामकरणादपूर्वकरणप्रवृत्तिलक्षणाष्टमगुणस्थानर्वात्तिनो भवन्ति। तथाहि—तत्रैके उपशम-

---

जो महाव्रती साधुके सकल मूलगुण शीलसे सयुक्त होता हुआ भी व्यक्त और अव्यक्त प्रमादमे निवास करता है, वह चित्रल आचरणवाला प्रमत्त सयत है ॥१६॥

विशेषार्थ—जिस प्रमादका स्वयको स्पष्ट अनुभव हो, उसे व्यक्त प्रमाद कहते है और जिसका स्वयको स्पष्ट अनुभव न हो वह अव्यक्त प्रमाद कहलाता है। चित्रल नाम चितकवरे हरिणका है। जैसे उसका स्वाभाविक सुनहरा रग बीच-बीचमे काले धब्बोसे युक्त होता हे, उसी प्रकार महाव्रत आदिका पालन करते हुए भी बीच-बीचमे कभी किसी मज्वलन और नोकपायका तीव्र उदय हो जानेसे व्यक्त और कभी उसके मन्द उदयमे अव्यक्त प्रमाद रहता है, तथा कभी इन्द्रियो के खान-पान आदि विषयोमे एव निद्रादिके समय व्यक्त प्रमाद पाया जाता है, इसलिए प्रमत्तसयत गुणस्थानवर्ती साधुके आचरणको चित्रल आचरण कहा जाता है।

अब सप्तम अप्रमत्त विरत गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—जब मज्वलन और नोकषायोका मन्द उदय प्रवर्तित होता है, तब सयत साधुजन अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होते हैं। उस समय वे बाहिरसे तो निरतिचार सकलचारित्रके धारक होते है और अन्तरगमे पूर्वोक्त तीन प्रकारके सम्यक्त्वमेसे किसी एक सम्यक्त्वके धारक, रूपातीत धर्मध्यानकी उच्चकोटिके साधक, इन्द्रियोंके विषय और तीव्र सज्वलनकषायके विजेता, तथा द्रव्यश्रुतके अभ्यासकी कुशलतासे आविष्कृत आत्मोत्पन्न स्वसवेदन ज्ञानानुभूतिकी शक्तिवाले होते है। इस प्रकारके स्वरूपवाले अप्रमत्तविरत नामक सप्तमगुणस्थानवर्ती साधु होते है। यहा यह विशेष ज्ञातव्य है कि छठे और सातवें गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। अत भावलिंगी साधुके सोते या जागते, बैठे या चलते और खाते-पीते सभी दशाओ मे उनके दोनो गुणस्थानोमे प्रवर्तन होता रहता है। यदि ऐसा नही होता है तो उन्हे द्रव्यलिंगी चतुर्थ-पचम गुणस्थानवर्ती साधु जानना चाहिए। और यदि सम्यक्त्वका उनके अभाव है तो वे प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी साधु हैं।

अब आठवें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—सज्वलन और नोकषायोके मन्दतर (सातवें गुणस्थानकी अपेक्षा और भी अधिक मन्द) उदय होनेपर अध करण परिणामकी प्रवृत्तिमे अन्तर्मुहूर्त कालतक स्थित रह कर प्रति समय अपूर्व-अपूर्व विशुद्धिवाले परिणामोके धारण करनेसे वे ही अप्रमत्त सयत अपूर्वकरण परिणामोमे प्रवृत्तिस्वरूप अष्टम गुणस्थानवर्ती होते हैं।

इस गुणस्थानमे दो श्रेणी होती हैं—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। जो तद्भव मोक्षगामी क्षायिक सम्यक्त्वी सयत है, वे चारित्र मोहनीयका क्षपण करनेके लिए क्षपक श्रेणीपर चढते हैं। किन्तु जो चारित्रमोहनीयके उपशमन करनेके लिए उद्यत होते है, वे श्रेणीपर आरोहण करते हैं।

का· क्षपकाश्चान्ये चतुर्दशपूर्वधरा. पृथक्त्ववितर्कवीचारास्वप्रथमपादशुक्लध्यानाभ्यासकौशल्याविर्भूतस्वात्मानुभूतिनिर्विकल्पसमाधिबलशिथिलीकृतघातिकर्माण निकटीकृतानाद्यनन्तसंसारसागरपारा, एवंविधा· अपूर्वकरणगुणस्थानवर्तिनः। उक्तं च—

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं ते।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समुल्लियइ ॥१७॥

अथ स एव सद्-दृष्टि औपशमिक क्षायिकश्चेति नव-नवक्षणेषु प्रथम-शुक्लध्यानप्रभावेणोपशमित-क्षपितघातिकर्मादिषट्त्रिंशत्-प्रकृतिश्च नवमगुणस्थानानिवृत्तकरणवर्ती भवति (९)। उक्तं च—

समए समए भिन्ना भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु।
अणियट्टी वि तह च्चिय पडिसमय एक्कपरिणामो ॥१८॥

स एव सम्यग्दृष्टिरौपशमिकभाव· क्षायिकभावश्चेति सूक्ष्मलोभकषायोपशमन-क्षपणकरणोद्यत तत्पूर्वोक्तशुक्लध्यानप्रथमपादप्रभावेण निर्विकारीकृतनिजात्मपरिणामकौसुम्भवस्त्रमिव सूक्ष्मरागपरिणत· एवंविध सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती भवति १०।

इस गुणस्थानमें कितने ही मोहकर्मके उपशामक होते हैं और कितने ही उनके क्षय करनेवाले क्षपक होते हैं। ये दोनों ही चतुर्दशपूर्वोंके ज्ञाता, शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथमपादके धारण करनेके अभ्यासकी कुशलतासे आविर्भूत निर्विकल्प समाधिके बलसे घातिकर्मोंकी शक्तिको शिथिल करनेवाले, तथा अनादि-अनन्त संसार-सागरके पारको निकट करनेवाले होते हैं। इस प्रकारके अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयत जानना चाहिए ८। कहा भी है—

अप्रमत्त संयत अन्तर्मुहूर्तकालतक अधःप्रवृत्तकरणको करके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त होता है ॥१७॥

इसके अनन्तर वही औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयत प्रत्येक नवीन-नवीन क्षणमें प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिकर्म आदिकी छत्तीस प्रकृतियोंको उपशमश्रेणीवाला उपशम करता हुआ और क्षपक श्रेणीवाला उनका क्षय करता हुआ अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानवर्ती होता है ९। कहा भी है—

यत आठवें गुणस्थानवर्ती जीवके समय-समयमें अपूर्वता लिये हुए भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, अतः इसे अपूर्वकरण संयत कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें भी इसी प्रकार (अपूर्वकरणके समान) ही प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणाम होते हैं। किन्तु उससे इस गुणस्थानकी विशेषता यह है कि एक समयवर्ती जीवोंके समान विशुद्धिवाला एक ही परिणाम होता है ॥१८॥

अथ पूर्वोक्त एव सद्-दृष्टि सर्वमोहनीयकर्मोपशमप्रभावान्निर्मलतमभावानुभवोपलब्धप्रथम-शुक्लध्याननिजात्मशक्तिरित्येकादशोपशान्तमोहगुणस्थानवासी जीवो भवति ११।

अथानन्तरं एकत्ववितर्कवीचारनाम द्वितीयशुक्लध्यानपादेनान्तर्मुहूर्तकाल स्थित्वा निज-शुद्धात्मद्रव्ये शुद्धात्मगुणे वा शुद्धपर्याये वैतेषां मध्ये एकतम द्रव्य गुण वा ध्यात्वा च क्षीणमोह सन् दर्शनावरणषट्प्रकृतय.। ताः का ? निद्रा-प्रचले २ चक्षुर्दर्शनावरणीयमचक्षुर्दर्शनावरणीयमवधि-दर्शनावरणीय केवलदर्शनावरणीयमिति चतस्र., इति षट्।

ज्ञानवरणकर्मण पञ्च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्ययज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणानीति। अन्तरायकर्मण पञ्च-दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगन्तरायोपभोगन्त-राय-वीर्यान्तरायाख्या। इति षोडशप्रकृतीना क्षये क्षीणमोह. प्राप्तानन्तचतुष्टयः क्षीणकषाय. द्वादशगुणस्थानवर्ती जिनो भवति १२।

अथानन्तर तदन्ते सम्प्राप्तसकलविमलकेवलज्ञान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीति तृतीयशुक्लध्यान-परायण चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्यानन्तचतुष्टय नाम षट्चत्वारिंशद्-गुणविराजमानो धरणेन्द्र-चक्रवर्त्ति-सुरेन्द्र-त्रिलोकेशादिकृतसमवशरणादिकेवलज्ञानपूजा किञ्चिदून कोटिपूर्वप्रमाण-

---

इसके पश्चात् औपशमिक भाववाला उपशम श्रेणीका आरोहक वही सम्यग्दृष्टि सयत सर्व-मोहनोय कर्मके उपशम कर देनेके प्रभावसे निर्मलतम भावोके अनुभवसे उपलब्ध एव प्रथम शुक्ल-ध्यानसे अपनी आत्मिकशक्तिको प्राप्त करनेवाला (सूक्ष्म लोभका उपशम करके उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है ११।

क्षपक श्रेणीका आरोहक क्षपक दशवें गुणस्थानमे सूक्ष्म लोभका क्षय करनेके अनन्तर एकत्ववितर्क-अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानके पादके साथ अन्तर्मुहूर्तकालतक बारहवें गुणस्थान-मे रहकर अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमे, अथवा शुद्ध-आत्मगुणमे, अथवा शुद्ध पर्यायमे, इनमेसे किसी एक के मध्यमे किसी एक द्रव्य, गुण या पर्यायको ध्याता हुआ क्षीणमोही बनकर सोलह प्रकृतियोका क्षयकर तदनन्तर समयमे अनन्तचतुष्टयका धारण करनेवाला क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान-वर्ती जिन होता है १२।

प्रश्न—वे सोलह प्रकृतियाँ कौन सी है ?

उत्तर—दर्शनावरणीयकर्मकी छह प्रकृतियाँ—१ निद्रा, २ प्रचला, ३ चक्षुदर्शनावरण, ४ अचक्षुदर्शनावरण, ५ अवधिदर्शनावरण, ६ केवलदर्शनावरण, ज्ञानावरणीयकर्मकी पाच प्रकृतिया—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मन पर्ययज्ञानावरण, ५ केवल ज्ञानावरण, तथा अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियाँ—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय। ये सब मिलकर (६+५+५=१६) सोलह प्रकृतियाँ होती हे। इनमेसे क्षीणमोही जीव बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमे पहिले निद्रा और प्रचलाका क्षय करता है और अन्तिम समयमे शेष चौदह प्रकृतियोका क्षय करता है।

उक्त प्रकृतियोका क्षय करनेके अन्तमे सम्पूर्ण विमल केवलज्ञानको प्राप्त हो, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्लध्यानमे परायण, चौंतीस अतिशय, आठ प्रतिहार्य और अनन्तचतुष्टय, इन छ्यालीस गुणोसे विराजमान, धरणेन्द्र चक्रवर्ती और सुरेन्द्र इन तीनो लोकोके

स्थितिको भव्यजनपुण्यप्रेरितगमनो लोकालोक-प्रकाशनभास्करः सयोगिकेवलिजिनस्त्रयोदश-गुणस्थानवर्ती भवति १३। उक्तं च—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियाण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरप्पववएसो ॥१९॥

अथानन्तरं लघुपञ्चाक्षरस्थितिकोऽयोगिकेवली चतुर्दशगुणस्थानवर्ती भवति। तथाहि—व्युपरतक्रियानिवृत्त्याख्यशुक्लध्यानचतुर्थपादाम्बुपूरप्रक्षालिताशेषाघातिकर्ममलकलङ्को द्विचरमान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयं अन्त्यसमये त्रयोदशप्रकृतीनां च क्षयं कृत्वा सम्यक्त्वाद्यष्टगुणालङ्कृतो द्रव्यकर्म-भावकर्माञ्जनरहितोऽवगतस्वभावः परमात्मा सिद्धोऽशरीरी ज्ञानमात्रः किञ्चिदूनचरमशरीराकारासंख्यातप्रदेशो लोकाग्रनिवासी समयैकानन्तरमेवंविधो निष्कलः सिद्धो भवति १४। इति चतुर्दशगुणस्थानात्मकश्चतुर्दशविधो धर्मः स्यात्।

एवं पूर्वोक्तविकथा-कषायेन्द्रिय-निद्रा-स्नेहाख्यपञ्चदशधा प्रमादपरित्यागरूपः पञ्चदशधा धर्मो भवति १५।

षोडशकारणभावनात्मकः षोडशप्रकारो धर्मः। तद्यथा—पञ्चविंशतिदोषातीतात्यन्तगृहीतात्मशक्तिदर्शनविशुद्धिः १। दर्शनज्ञानचारित्र-तदाराधकविनयोपयुक्ता विनयसम्पन्नता २।

स्वामियोके द्वारा सेवित, समवशरण आदि केवल ज्ञान-पूजाको प्राप्त, कुछ कम कोटि पूर्ववर्ष-प्रमाण स्थितिके धारक, भव्यजनोके पुण्यसे प्रेरित गमनवाले, लोक और अलोकको प्रकाशन करनेके लिए सूर्य–समान सयोगिकेवली जिन तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते है १३। कहा भी है—

केवलज्ञानरूपी दिवाकर (सूर्य) की किरणोके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकारके नाश करने वाले, क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य' इन नौ केवललब्धियोके प्रकट होनेसे जिनको 'परमात्मा' यह सज्ञा प्राप्त हुई है, ऐसे सयोगी जिन होते है ॥१९॥

इसके अनन्तर 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाच लघु अक्षरोके उच्चारण कालप्रमाण स्थितिके धारक चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली जिन होते हैं। वे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्ल-ध्यानके चतुर्थ पादरूप जलके प्रवाहसे समस्त अघातिया कर्म-मल-कलकको प्रक्षालन करते हुए द्विचरम समयके अन्तमे बहत्तर प्रकृतियोका क्षय करके और अन्तिम समयमे तेरह प्रकृतियोका क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणोसे अलकृत, द्रव्यकर्म, भावकर्मरूप अजनसे रहित, शुद्ध आत्म-स्वभावको प्राप्त, औदारिकादि शरीरोसे रहित अशरीरी, किन्तु ज्ञानरूप शरीरके धारक, चरमशरीरसे कुछ कम आकारवाले असख्यातप्रदेशी और लोकाग्रनिवासी एक समयके अनन्तर ही इस प्रकारके निष्कल सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं १४।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानरूप चौदह प्रकारका धर्म होता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त चार विकथा, चार कषाय, पाच इन्द्रिया, निन्द्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रकारके प्रमादोके त्यागरूप पन्द्रह प्रकारका धर्म होता है १५।

तीर्थंकर प्रकृतिकी वन्ध करानेवाली सोलहकारण भावनाओके भाने-स्वरूप सोलह प्रकार-का धर्म होता है। इनका विवरण इस प्रकार है—पूर्वोक्त पच्चीस दोषोसे रहित होनेसे अत्यन्त विशुद्ध आत्मशक्तिकी प्राप्ति होना दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना है १। दर्शन, ज्ञान, चारित्र

त्रीणि गुणव्रतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानीति शीलसप्तक तथा सागारापेक्षया स्वदाराभक्त-परदारापराङ्मुखरूप द्विविध शीलमित्यादिगृहीत-(व्रत-)परिपालन शीलमुच्यते। एवविधशीलव्रतेष्वनतिचारता तृतीया भावना ३। श्रीसर्वज्ञवीतरागोक्तद्रव्यश्रुतावलम्बोत्पन्नस्वसवेदनज्ञान भावश्रुत द्रव्यश्रुत वा, पुन. पुनश्चिन्तनमभीक्ष्णज्ञान तस्मिन्नुपयोगोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगश्चतुर्थभावना ४। जिनोक्तनिश्चय-व्यवहारूपे धर्मे धर्मफले वाऽनुराग. प्रीतिर्वा सयोग एव पञ्चमी भावना ५। आत्मशक्त्यनुसारेण आहारौषधशास्त्राभयदानादिचतुर्विध दान दीयते यस्या सा षष्ठी दानभावना ६। तथैव बाह्याभ्यन्तररूप तपस्तप्यते यत्र सा तपोभावना सप्तमी ७। सर्वज्ञोक्तनयविभागेन क्रमेण भेदाभेदरत्नत्रयोपलब्धिभावना भवान्तर प्रापणरूपा समाधि. साधु उत्तम: समाधि. साधुसमाधिरष्टमभावना ८। पूर्वोक्ताचार्योपाध्यायादिदशप्रकारवैयावृत्त्यकरणस्वरूपा नवमभावना ९। अर्हता सर्वज्ञाना केवलज्ञानाद्यनन्तगुणेषु सम्यग्मनोवचनकायैरनुष्ठान-स्मरणरूपा भक्तिरर्हद्-भक्ति दशमी भावना १०। सम्यग्दर्शनाचार-सम्यग्ज्ञानाचार-सम्यक्चारित्राचार-सम्यक्तपश्चरणाचार-वीर्याचाराख्यान् व्यवहार-निश्चयरूपान् स्वयमाचरन्त्यन्यभव्यजनशिष्यान् आचारयन्त्याचार्यास्तेष्वाचार्येषु भक्तिराचार्य-भक्तिरेकादशभावना ११। सर्वज्ञोक्तागमाध्यात्म-

---

और इनके आराधकोके प्रति विनयसे उपयुक्त रहना दूसरी विनयसम्पन्नता भावना है २। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातको शील कहते है। तथा गृहस्थकी अपेक्षा स्वदार-सेवन और परदार-पराङ्मुखरूप दो प्रकारके व्रतको भी शील कहते है। तथा धारण किये हुए अणुव्रत-महाव्रतोके भलीभातिसे निरतिचार परिपालनको भी शील कहा जाता है। इस प्रकारके शील-व्रतोको अतिचार-रहित पालना तीसरी भावना है ३। श्री सर्वज्ञवीतराग-प्ररूपित द्रव्यश्रुतके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए स्वसवेदन ज्ञानरूप भावश्रुतको, अथवा द्रव्यश्रुतको पुन-पुन (वारवार) चिन्तन करना अभीक्ष्ण ज्ञान कहलाता है, उसमे निरन्तर अपना उपयोग लगाये रहना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग नामकी चौथी भावना है ४। जिन-भाषित निश्चय और व्यवहाररूप धर्ममे तथा धर्मके फलमे अनुराग रखना, प्रीति करना (अथवा ससारसे निरन्तर भयभीत रहना) सवेग नामकी पाचवी सवेगभावना है ५। अपनी शक्तिके अनुसार आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान आदि चार प्रकारके दानोका देते रहना, यह छठी दान भावना है। (दानको देनेमे अपने धनके लोभका त्याग करना पडता है, अत इसे अन्य ग्रथोमे त्याग भावना कहा है।) पूर्वोक्त बाह्य और अभ्यन्तर तपोका तपना सो सातवी तपोभावना है ७। सर्वज्ञोक्त नय-विभागके क्रमसे भेदाभेदरूप रत्नत्रय-प्राप्तिकी भावना करना, तथा भवान्तर स्वर्ग-मोक्षके प्राप्त करानेवाली चित्त-शान्ति रखना समाधि कहलाती है। साधु अर्थात् उत्तम समाधिको साधुसमाधि कहते है। यह आठवी भावना है ८। पूर्वोक्त आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके साधुओकी वैयावृत्त्य करना नवमी भावना है ९। अर्हन्त सर्वज्ञदेवोकी केवल ज्ञान आदि अनन्तगुणोमे सम्यक् मन वचन कायके द्वारा पूजा-पाठरूप अनुष्ठान करना, उनके गुणोके स्मरणरूप भक्ति रखना अर्हद्-भक्ति नामकी दशवी भावना है १०। सम्यग्दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञानाचार, सम्यक्चारित्राचार, सम्यक्तपश्चरणाचार और सम्यक् वीर्याचार नामक निश्चय-व्यवहाररूप पच आचारोका जो स्वय आचरण करते है, तथा अन्य भव्यजनो और शिष्योको आचरण कराते हैं, वे आचार्य कहलाते है। उन आचार्योमे भक्ति रखना सो आचार्य-भक्ति नामकी ग्यारहवी भावना है ११। सर्वज्ञोक्त आगमो और अध्यात्म शास्त्रोके ज्ञाता उपाध्याय 'वहुश्रुत' कहलाते हैं। उनमे निष्कपट भावसे भक्ति रखना

शास्त्रज्ञा बहुश्रुतास्तेषु निष्कपटभावभक्ति' बहुश्रुतभक्ति द्वादश भावना १२। जिनोक्तद्रव्यश्रुतप्रतीतिरूपा भक्ति प्रवचनभक्तिस्त्रयोदश भावना १३। सर्वज्ञोक्तसमतास्तुति-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानकायोत्सर्गलक्षणषडावश्यकेषु निरतिचारता या सा आवश्यकापरिहाणिरूपा चतुर्दश भावना १४। जिनेन्द्रोक्तनिश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गं स्वयमाचरन् सन् भव्यजनानामग्रे प्रकाशयतीति मार्गप्रभावना पञ्चदशका १५। सर्वज्ञाना प्रकर्षं वचन प्रवचन तस्मिन् वात्सल्यरूपा प्रवचनवत्सलत्व षोडश भावना १६। इति श्रीतीर्थंकरनामगोत्रसमवशरणादिविभूतिषोडशकारणभावनात्मक षोडशविधो धर्मः।

इत्यादिजिनोक्तधर्मस्य बहवो भेदा सख्यातासख्याताश्च भवन्ति। अत्र भावनाग्रन्थे ग्रन्थभूयस्त्वभयादस्माभिर्नोच्यते। इत्येवविधस्य धर्मस्य प्रवर्तनार्थं भव्यजनप्रबोधनार्थं च। (के भव्या ?) ते भव्याः कथ्यन्ते येषा भाविकाले रत्नत्रय प्रकटीभविष्यति ते भव्या। येषा तु कालान्तरेऽपि केवलज्ञानं व्यक्त न भविष्यति ते अभव्या.। केचनाभव्यसमाना भव्या, एके दूरभव्या. केचनाऽऽसन्नभव्या.। इति भव्यत्वलक्षणम् ॥२॥

अथ कतिपयविध तत्त्वमिति प्रश्ने सति भट्टारकश्रीदेवसेनदेवा आहुः—

बहुश्रुतभक्ति नामकी बारहवी भावना है १२। जिन-भाषित द्रव्यश्रुतकी प्रतीतिरूप श्रद्धा रखना, उसके अभ्यासमे प्रीति एव भक्ति रखना सो प्रवचनभक्ति नामकी तेरहवी भावना है १३। सर्वज्ञ-प्ररूपित समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग लक्षणवाले छह आवश्यकोमे निरतिचारितारूप जो प्रवृत्ति है, वह आवश्यकापरिहाणिरूप चौदहवी भावना है १४। जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गका स्वय आचरण करते हुए भव्य-जनोके आगे उसे प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना नामकी पन्द्रहवी भावना है १५। सर्वज्ञदेवोके प्रकृष्ट वचनोको प्रवचन कहते हैं, उस प्रवचनमे वात्सल्य रखना सो प्रवचनवत्सलत्व नामकी सोलहवी भावना है १६।

इस प्रकार श्रीतीर्थंकर-नामगोत्रकी और समवशरणादि विभूतिकी कारणरूप सोलह कारणभावनात्मक सोलह प्रकारका धर्म है।

इत्यादि प्रकारसे जिनोक्त धर्मके बहुत भेद है जो कि विस्ताररूपमे सख्यात और असख्यात होते है। किन्तु इस भावनाग्रन्थमे ग्रथ-विस्तारके भयसे हम (टीकाकार) नही कहते है। इस उक्त प्रकारके धर्मके प्रवर्तन करनेके लिए तथा भव्यजनोके प्रबोधके लिए भी देवसेनाचार्य इस तत्त्वसारकी रचना कर रहे है।

प्रश्न—कौन जीव भव्य कहलाते है ?

उत्तर—जिन जीवोके भविष्यकालमे रत्नत्रय धर्म प्रकट होगा, वे जीव भव्य कहलाते है।

किन्तु जिन जीवोके कालान्तरमे भी केवलज्ञान प्रकट नही होगा, वे जीव अभव्य कहे जाते है। कितने ही अभव्यके समान भव्य होते हैं, कितने ही जीव दूरभव्य होते है और कितने ही आसन्न (निकट) भव्य होते है। इस प्रकारसे भव्य और अभव्यका स्वरूप जानना चाहिए ॥२॥

वह तत्त्व कितने प्रकारका है ? यह प्रश्न होनेपर भट्टारक श्रीदेवसेनदेव उत्तर देते है—

मूलगाथा—एग सगय तच्च अण्ण तह परगय पुणो भणिय ।
सगय णिय-अप्पाण इयर पचावि परमेट्ठी ॥३॥

सस्कृतच्छाया—एक स्वगत तत्त्व अन्य परगत पुन भणितम् ।
स्वगत निजात्मा इतरत् पञ्चापि परमेष्ठिन ॥३॥

टीका—तत्त्वमिद भणित प्रोक्तम् । कै, पूर्वाचार्यैः सर्वज्ञश्रीवीतरागदेवैर्वा । तत्रैक स्वगत निजात्मगत तत्त्वमुच्यते । तथैव पर गत तत्त्व परद्रव्यगत तत्त्वात् । स्वगत हि वस्तुतया कर्ममल-कलङ्कभावोद्भवसङ्कल्प-विकल्पभावरहितो निजात्मैव तत्त्वम् । इतरच्च परगततत्त्वं पञ्चविधम् । तथाहि—षट्चत्वारिंशद्-गुणलक्षणलक्षितोऽर्हन् केवलज्ञानभास्कर सर्वज्ञो वीतराग सकलदेव. । सम्यक्त्वाद्यष्टगुणमूर्ति सिद्धात्मा निष्कल परब्रह्म परमात्मा सिद्ध । पञ्चाचारादिषट्त्रिंशद्-गुणविराजमान आचार्य । एकादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्वाणीति पञ्चविंशतिगुणस्वभावाविर्भूत उपाध्याय । निश्चय-व्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं जिनोक्तयुक्त्या ये साधयन्ति ते साधवः । परा उत्कृष्टा मा केवलज्ञानादिर्लक्ष्मीर्यत्र पदे तत्परम तस्मिन् परमे पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिन । पञ्चैव परगततत्त्वमुक्तमिति तत्त्वलक्षणं ज्ञात्वा नयविभागेन दुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थ वा आसन्नभव्यैरुपादेयबुद्धया तत्त्व चिन्तनीय भृशमिति भावार्थ ॥३॥

भा० व०—एक तो स्वगत कहिए निजात्मा ही तत्त्व है। अर अन्य दूसरा परगत तत्त्व है। तहा स्वगत तत्त्व तो निजात्मा है। अर अन्य दूसरा तत्त्व पच परमेष्ठी है ॥३॥

अन्वयार्थ—(एग) एक (सगय) स्वगत (तच्च) स्वतत्त्व है। (तह) तथा (पुणो) फिर (अण्ण) दूसरा (परगय) परतत्त्व (भणिय) कहा गया है। (सगय) स्वगत तत्त्व (णिय) निज (अप्पाण) आत्मा है। (इयर) दूसरा परगततत्त्व (पचावि परमेट्ठी) पाचो ही परमेष्ठी हैं ॥३॥

टीकार्थ—सर्वज्ञ श्रीवीतरागदेवोने और उनके पश्चात् पूर्वाचार्योंने तत्त्व दो प्रकारका कहा है—एक स्वगततत्त्व और दूसरा परगततत्त्व। स्वगततत्त्वका अर्थ है—अपना आत्मगततत्त्व। परगततत्त्वका अर्थ है परद्रव्यगततत्त्व। वास्तविक दृष्टिसे कर्म-मल-कलक-जनित भावोसे उत्पन्न हुए सकल्प-विकल्पोसे रहित निज आत्मा ही स्वतत्त्व है। दूसरा जो परगत है, वह पचपरमेष्ठीके रूपसे पाच प्रकारका है। उनमे छ्यालीस गुणरूप लक्षणसे लक्षित, केवलज्ञान भास्कर, सर्वज्ञ वीतराग, सकल परमात्मा अर्हन्तदेव प्रथम परमेष्ठी है। सम्यक्त्व आदि अष्टगुणरूप मूर्त्तिके धारक, सिद्धात्मा निष्कल, परमब्रह्म, परमात्मा सिद्ध भगवन्त दूसरे परमेष्ठी हैं, पचआचारादि छत्तीस गुणोसे विराजमान आचार्य तीसरे परमेष्ठी हैं। ग्यारह अग और चौदह पूर्वरूप पच्चीस गुणरूप स्वभावके धारक उपाध्याय चौथे परमेष्ठी हैं। जो जिनोक्त निश्चय और व्यवहाररत्न-त्रयात्मक मोक्षमार्गको जिन-प्ररूपित युक्तिके साथ साधन करते है वे साधुजन पाचवें परमेष्ठी हैं।

प्रश्न—परमेष्ठी किसे कहते है ?

उत्तर—पर अर्थात् उत्कृष्ट, मा अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी जिस पदमे पाई जावे, उसे 'परम' कहते है। उस 'परम' पदमे जो रहते हैं वे परमेष्ठी कहलाते है।

उक्त स्वरूपवाले पाचो ही परमेष्ठी परगत तत्त्व कहे गये है। इस प्रकार नय विभागसे तत्त्वका स्वरूप जानकर अर्थात् निश्चयनयसे निज शुद्ध आत्मा ही 'तत्त्व' है और व्यवहारनयसे

अथ हे भगवन्, तेषां पञ्चपरमेष्ठिनां तत्त्वचिन्तनात् किं फलं भवतीति पृष्टे परिहारमाह—

मूलगाथा—तेसिं अक्खररूव भवियमणुस्साण झायमाणाण ।
बज्झइ पुण्ण बहुसो परपराए हवे मोक्खो ॥४॥

संस्कृतच्छाया—तेषां अक्षररूपं भव्यमनुष्याणां ध्यायमानानाम् ।
वध्यते पुण्य बहुश. परम्परया भवेन्मोक्ष ॥४॥

टीका—इत्यस्या गाथाया अवतारिका। तेषां पञ्चानामर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यासाधूना परमेष्ठिवाचकानामक्षरात्मक बीजाक्षरं पदस्थध्यानवाचक मन्त्ररूपं ध्यायमानाना मनुष्याणा भव्यात्मना तत्पुण्यं वध्यते बहुशो बहुप्रकार येन पुण्येन परम्परया मोक्षो भवेत्। तथाहि—स मोक्षो द्विविध'—भावमोक्षो द्रव्यमोक्षश्चेति। तत्र निर्विकार-निर्विकल्प-निरञ्जन- शुद्ध-बुद्धस्वात्मो-

---

भा० व०—तेपा कहिए तिनि अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधू पच परमेष्ठीनिके वाचक अक्षरात्मक बीजाक्षर पदस्थ ध्यान वाचक मत्ररूप ध्यान करता जे भव्य मनुष्य तिनिकै बहुत पुण्य जो है सो बधै है, अर परपरा करि मोक्ष होय है ॥४॥

आगैं स्वगततत्त्वकू कहै हैं—

पंचपरमेष्ठी 'तत्त्व' हैं ऐसा निर्णय कर आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए और संसारकी स्थितिको छेदनेके लिए निकट भव्य जीवोंको उपादेयबुद्धिसे तत्त्वका बारबार चिन्तवन करना चाहिए, यह गाथाका भावार्थ है ॥३॥

अब, हे भगवन्! उन पंच परमेष्ठियोंके तत्त्व चिन्तवन करनेसे क्या फल होता है? ऐसा पूछनेपर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(तेसिं) उन पंच परमेष्ठियोंके (अक्खररूव) वाचक अक्षररूप मंत्रोंको (झाय-माणाण) ध्यान करनेवाले (भवियमणुस्साण) भव्यजनोंके (बहुसो) बहुत-सा (पुण्ण) पुण्य (बज्झइ) बंधता है। (परंपराए) और परम्परासे (मोक्खो) मोक्ष (हवे) प्राप्त होता है ॥४॥

पलब्धिलक्षणो भावमोक्षः। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मणां सर्वथा सामस्त्येन क्षयात् केवलज्ञानाद्यनन्तगुणप्राप्तेश्च द्रव्यमोक्ष'। इत्येव द्विविधस्य मोक्षस्य यतः प्राप्ति स्यात्तत' पञ्चपरमेष्ठिस्वरूप चिन्तनं तज्ज्ञैर्भव्यजनैर्निरन्तर कार्यमिति भावार्थः ॥४॥

मुक्त होना द्रव्यमोक्ष है। यह मोक्ष केवलज्ञानादि अनन्त गुणोकी प्राप्तिरूप है। इस प्रकार दो भेदरूप मोक्षकी प्राप्ति जिनसे होती है, उन पचपरमेष्ठियोके स्वरूपका चिन्तन ज्ञानी भव्यजनोको निरन्तर करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४॥

विशेषार्थ—आत्मध्यानके अभ्यास करनेवाले भव्यजीवोको सर्वप्रथम पच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोका, बीजाक्षरोका और मत्राक्षरोका जप करना आवश्यक है। पंचपरमेष्ठीके नमस्कारात्मक 'णमोकार' मत्र पैंतीस अक्षरवाला है। 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम' यह सोलह अक्षरवाला मत्र है। 'अरिहन्त सिद्ध' यह छह अक्षरवाला मत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पच अक्षरवाला मत्र है। 'अरहंत' यह चार अक्षरवाला मत्र है। 'अर्हन् या सिद्ध' यह दो अक्षरी मत्र है। तथा 'ओ' यह एकाक्षरी मत्र है। इनके अतिरिक्त 'ॐ नम सिद्धेभ्य', ॐ ह्री अर्ह असि आउसा नम' आदि इसी प्रकारके विभिन्न अक्षरोसे निर्मित अनेक प्रकारके मत्र गुरुजनोके उपदेश से जानना चाहिए। अनेक अक्षरोके सयोगसे बननेवाले मत्रको बीज मत्र कहते है। जैसे पच परमेष्ठीके आदि अक्षर अरहतका 'अ' अशरीरी सिद्धका 'अ' आचार्यका 'आ' उपाध्यायका 'उ' और मुनिका 'म्' इन अ + अ + आ + उ + म् = का व्याकरणके नियमसे सयोग करनेपर 'ओम्' या 'ओ' बीजमत्र बन जाता है। इसी प्रकार 'ह्री' बीजाक्षरी मत्र चौबीस तीर्थंकरोका वाचक है।

अभ्यासी व्यक्तिको सर्वप्रथम एकाक्षरी मत्रका १०८ बार हृदयकमलके आठ पत्रो और मध्यवर्ती कर्णिकाके आधारपर जाप प्रारम्भ करना चाहिए। जब इसकी साधना बिना चित्त-चचलताके सिद्ध हो जाय, तब दो अक्षरी मत्रका जाप प्रारम्भ करे। इस प्रकार साधना करते हुए चार, पाच, छह आदि अक्षरोके मत्रोके जापकी साधना करनी चाहिए। मत्र-जापकी विधि यह है कि अति मन्दस्वरमे मत्रका उच्चारण इस प्रकार करे कि उसकी ध्वनि अपने कानसे ही सुनाई पडे, किन्तु दूसरेको सुननेमे न आवे। इस प्रकारसे जप-सिद्धि हो जानेपर उन्ही मत्रोका 'मस्तकपर, भौंहोके बीचमे, नासाके अग्र भागपर, कठके मध्यमे, हृदय और नाभि आदि स्थानो पर मनको केन्द्रित करके ध्यान करना चाहिए। जपमे मन्दस्वरसे उच्चारण करते हुए ओष्ठ कम्पित होते हैं। किन्तु ध्यानमे मनके भीतर ही मत्रोका मौन रूपमे उच्चारण होता है। मत्र-जापसे ही लाखो गुणा पुण्यसचय होता है। तथा मत्र-जापसे मत्र-ध्यानमे करोडो गुणा अधिक पुण्य-सचय होनेके साथ अशुभ कर्मोकी असख्यात गुणी निर्जरा भी होती है। ग्रन्थकर्ता श्री देवसेनाचार्य कहते है कि उक्त प्रकारसे परमेष्ठी-वाचक अक्षरोके जप और ध्यानसे बहुत प्रकारके सातिशय पुण्यका बन्ध होता है और उससे परम्परा मोक्ष भी प्राप्त होता है।

अब 'स्वगत तत्त्वका लक्षण क्या है, और उसकी क्या विशेषता है ? इस प्रकारका प्रश्न होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

अथ ननु किं विशिष्ट स्वगततत्त्वलक्षणमित्याह—

मूलगाथा— ज पुणु सगय तच्च सवियप्प हवइ तह य अवियप्प ।
सवियप्प सासवय णिरासव विगयसकप्प ॥५॥

संस्कृतच्छाया—यत्पुन स्वगतं तत्त्वं सविकल्पकं भवति तथा च अविकल्पम् ।
सविकल्प सास्रवक निरास्रव विगतसङ्कल्पम् ॥५॥

टीका—यत्पुनः स्वगत तत्त्व इत्यवतारिका। जं पुणु इत्यादिपदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्त्राऽऽचार्यश्रीकमलकीर्तिना व्याख्यान क्रियते—यत्पुन स्वगतं स्वात्मगत निजात्मलीनं तत्त्व तद् द्विविध-सविकल्पक भवति निर्विकल्पक च। तथाहि—चतुर्थगुणस्थानवर्तिजघन्याराधकादितारतम्येन यावत् सूक्ष्मसाम्यपरायकषायान्तरे(?)सति तावत् सविकल्पं हि स्वात्मतत्त्वं भवति। तथैव साक्षात् क्षीणकषाये द्वादशगुणे निर्विकल्प स्वगततत्त्वं भवति। सविकल्पं हि यत कर्मास्रवकारणत्वात् सास्रवं विज्ञेयम्। निरास्रव तत्त्वं तु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाख्यात् आस्रवान्निर्गतं आस्रवेभ्यो यत्तत्त निरासवतत्त्वम्। यतो वा विगता विनष्टा सङ्कल्पा रागादिरूपास्तद्विगतसङ्कल्प ततो निरास्रवम्। निरास्रवे सति सवरो भवति, सवरे सति कृतकर्मणां उदयरूपेण गलन निर्जरा, निर्जरायां सत्या मोक्षो भवतीति ज्ञात्वा तत्त्वविद्भिः पुरुषै. निरास्रव निजात्मतत्त्व निरन्तरं त भावनीयमिति ॥५॥

भा० व०—बहुरि जो स्वगत तत्त्व है सो सविकल्प होय है, तैसैं ही अविकल्प है। सविकल्प है सो तो आश्रव सहित है, अर सकल्प-रहित है सो निराश्रव है आश्रव-रहित है ॥५॥

आगैं अविकल्प तत्त्व कहै है—

अन्वयार्थ—(पुणु) पुन (ज) जो (सगय तच्च) स्वगत तत्त्व है वह (सवियप्प) सविकल्प (तह य) तथा (अवियप्प) अविकल्प रूपसे दो प्रकारका (हवइ) है। (सवियप्प) सविकल्प स्वतत्व (सासवय) आस्रव-सहित है। और (विगयसकप्प) सकल्प-रहित निर्विकल्प स्वतत्त्व (णिरासव) आस्रव-रहित है।

टीकार्थ—स्वगत तत्त्वको कहनेके लिए इस गाथाका अवतार हुआ है। टीकाकार आचार्य श्री कमलकीर्ति अब इसका व्याख्यान करते है—जो स्वगत अर्थात् स्वात्मगत या निज आत्म-लीन तत्त्व है, वह दो प्रकारका है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमेसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य आराधकको आदि लेकर तारतम्यके क्रमसे सूक्ष्मसाम्पराय कषाय नामक दशम गुणस्थानके अन्त होनेतक सविकल्पक ही स्वात्मतत्त्व होता है। उसी प्रकार क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमे साक्षात् निर्विकल्पक स्वगततत्त्व होता है। यत सविकल्पक स्वगत तत्त्व कर्मोंके आस्रवका कारण है, अत उसे सास्रव जानना चाहिए। किन्तु निरास्रव तत्त्व मिथ्यात्व, अविरति, कषाय (प्रमाद) और योग नामक आस्रवसे निर्गत अर्थात् सभी कर्मास्रवके कारणोसे रहित है, अत वह निरास्रव तत्त्व है। अथवा रागादिरूप सभी प्रकारके सकल्प-विकल्प यत बारहवें गुणस्थानमे विगत या विनष्ट हो जाते है, अत वह निर्विकल्प स्वगत तत्त्व विगत-सकल्प एव निरास्रव है। निरास्रव अर्थात् कर्मोका आस्रव रुकनेपर सवर होता है और सवर होनेपर उपार्जित कर्मोकी उदयरूपसे गल-गल कर निर्जरा होती है। और निर्जराके होनेपर मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा जानकर तत्त्वोंके जानकार पुरुषोको निरास्रव जो निज-आत्मतत्त्व है, उसकी निरन्तर भावना करनी चाहिए ॥५॥

अथाहोस्विद् विगतसङ्कल्पे सति किमग्रे भवतीत्याह—

मूलगाथा—इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरण हवे जइया।
तइया त अवियप्पं ससरूवे अप्पणो त तु ॥६॥

संस्कृतच्छाया—इन्द्रियविषयविरामे मनसो निर्मूलन भवेद्यदा।
तदा तदविकल्पं स्वस्वरूप आत्मनस्तत्तु ॥६॥

टीका—इत्यवतारिका कृत्वा वृत्तिकर्ताऽहं विवृणोमि। तथाहि—'जइया' यदा 'इंदियविसयविरामो' स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय- श्रोत्रेन्द्रियाणामिति पञ्चेन्द्रियाणा सप्तविंशतिविषयेभ्यो विरमणं विरक्तिरिन्द्रियविरामस्तस्मिन् इन्द्रियविषयविरामे सति मणस्स मनस. णिल्लूरण मनोविकल्प रूप तस्य मनसो निर्लूरण छेदनं त्रोटनं उत्पादन निर्मूलनमित्येकार्थ.। हवे भवेत्, तइया तदा, 'त अवियप्प ससरूवे अप्पणो त तु' तत् तत्त्व अविकल्प निर्विकल्पा(?) [निर्गता विकल्पा] अस्मिन्निति अविकल्प, निर्विकल्प सन् आत्मन स्वस्वरूपे लीन तन्मय भवतीति क्रियाध्याहारः क्रियते। 'त तु' तत्तत्त्व तु पुनरिति रहस्य ज्ञात्वा तज्ज्ञे तत्त्वज्ञे. पुरुषै उपादेयबुद्धया निरन्तर वस्तुस्वरूप भावनीयमिति भावार्थ ॥६॥

भा० व०—जदि इंद्रिनिका विषयनितैं विरक्त होत सतैं मनका निर्मूल छेद होय है तदि सो अविकल्पस्वरूप विषैं आत्मा लीन होय है। भावार्थ—इनिकौं विषयनितैं विरक्त होत सतैं मन निश्चल होय है। अर मनके निश्चलपना होत सतैं अविकल्प ध्यान होय है ॥६॥

आगैं याहीकूं कहै है—

आत्माके सकल्प-रहित होनेपर आगे क्या होता है ? ग्रन्थकार इसका उत्तर देते है—

अन्वयार्थ—(जइया) जब (इंदिय विसयविरामे) इन्द्रियोंके विषयोका विराम अर्थात् इच्छा-निरोध हो जाता है (तइया) तब (मणस्स) मनका (णिल्लूरण) निर्मूलन (हवे) होता है, और तभी (त) वह (अवियप्प) निर्विकल्पक स्वगत तत्त्व प्रकट होता है। (त तु) और वह (अप्पणो) आत्माका (ससरूवे) अपने स्वरूपमे अवस्थान होता है।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे इस गाथाका अवतरण करके टीकाकार मै कमलकीर्त्ति इसका विवरण (स्पष्टीकरण) करता हू। 'जइया' जब इन्द्रिय-विषयोका विराम होता है, अर्थात् स्पर्शन-इन्द्रियको गुरु-लघु आदि आठ स्पर्शोसे, रसना-इन्द्रियका तिक्त-कटु आदि पाच रसोसे, घ्राण-इन्द्रियका सुगन्ध आदि दो गन्धोसे, चक्षु-इन्द्रियका श्वेत-कृष्ण आदि पाच वर्णोसे और श्रोत्र-इन्द्रिय-का षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरोसे, इस प्रकार पाचो ही इन्द्रियोकी सत्ताईस प्रकारके विषयोंसे विरमण या विरक्ति होती है, तब उसे 'इन्द्रियोंके विपयोसे विराम' कहते है, उस इन्द्रिय-विषय-विराम होनेपर मनका अर्थात् मनके विकल्पोका निर्मूलन होता है। निर्लूरण, छेदन, त्रोटन, उत्पाटन और निर्मूलन, ये सभी एकार्थ-वाचक शब्द हैं। जव मनके विकल्पोका निर्मूलन अर्थात् जड-मूलसे अभाव होता है, तव वह निर्विकल्प तत्त्व अर्थात् आत्माका स्वस्वरूपमे अवस्थान होता हैं। विकल्प जिसमेसे निकल जाते है, उसे निर्विकल्प या अविकल्प कहते है। निर्विकल्प होता हुआ आत्मा अपने आत्माके स्व-स्वरूपमे लीन अर्थात् तन्मय होता है। यहा 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है। 'त तु' वह 'स्वगत निर्विकल्प तत्त्व है' इस रहस्यको जानकर तत्त्वज्ञ पुरुषोको उपादेय बुद्धिसे निरन्तर वस्तु-स्वरूपकी भावना करनी चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६॥

अथाह हो भगवन्, स्वमनसि निश्चलीभूते सति कीदृग्भावो भवतीति भगवानाह—

मूलगाथा—समणे णिच्चलभूए णट्ठे सव्वे वियप्पसदोहे ।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥७॥

संस्कृतच्छाया—स्वमनसि निश्चलीभूते नष्टे सर्वस्मिन् विकल्पसन्दोहे ।
स्थित. शुद्धस्वभावो विकल्पो निश्चलो नित्य. ॥७॥

टीका—इत्यस्या गाथाया अवतारिका कृत्वा टीकाकार पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति। तद्यथा—भो भव्यवरपुण्डरीकामरसिंह पृच्छक, भो आत्मन् 'समने' स्वमनसि विकल्पकलापहेतुभूते 'णिच्चलभूए' निश्चलीभूते निष्पन्दीभूते सति 'णट्ठे सव्वे वियप्पसदोहे' विकल्प्यन्ते विकल्पास्तेषां विकल्पाना सन्दोह समूहो विकल्पसन्दोह, तस्मिन् विकल्पसन्दोहे सर्वस्मिन् नष्टे विनष्टे च 'कारणाभावात्कार्यं न हि दरीदृश्यत' इति न्यायात्। तदनु 'थक्को सुद्धसहावो' स्थित

भा० व०—अपना मन है सो निश्चलभूत होत संतं अर समस्त विकल्पनिके समूह नष्ट होत संतें शुद्ध स्वभाव है सो स्थिर होय है अर अविकल्प कहिए विकल्प-रहित होय है, अर निश्चल है अर नित्य होय है ॥७॥

अब शिष्य पूछता है—हे भगवन्! अपने मनके निश्चलीभूत होनेपर किस प्रकारका भाव होता है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

अन्वयार्थ—(समणे) अपने मनके (णिच्चलभूए) निश्चलीभूत होनेपर (सव्वे) सर्व (वियप्पसदोहे) विकल्प-समूहके (णट्ठे) नष्ट होनेपर (अवियप्पो) विकल्प-रहित निर्विकल्प (णिच्चलो) निश्चल (णिच्चो) नित्य (सुद्धसहावो) शुद्ध स्वभाव (थक्को) स्थिर हो जाता है।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण करके टीकाकार उसका व्याख्यान करते हैं। यथा—हे भव्योंमे श्रेष्ठ कमल समान प्रश्नकर्ता अमरसिंह! हे आत्मन्! विकल्प-समूहके कारण-भूत अपने मनके निश्चल होनेपर अर्थात् परिस्पन्दरूप हलन-चलनसे रहित होनेपर मन स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—विकल्प किसे कहते हैं?

उत्तर—मनमें अनेक प्रकारकी जो कल्पनाएं उठती हैं, उन्हें विकल्प कहते हैं।

इन विविध प्रकारके विकल्पोंके सन्दोह अर्थात् समूह या समुदायके नष्ट होनेपर मन स्वयं ही स्थिर हो जाता है, क्योंकि 'कारणके अभावसे कार्यका होना नहीं देखा जाता है' ऐसा न्याय है।

स्थितिं प्राप्त क स्थित शुद्धस्वभाव' रागादिरहितः शुद्ध' स्वस्यात्मनो भवन भावः, शुद्धश्चासौ स्वभावश्च शुद्धस्वभाव । पुनश्च कथम्भूत. शुद्धस्वभावः ? 'अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो' न विकल्पा अस्मिन्निति अविकल्पः । पुनरपि किंविशिष्टो निश्चल स्थानान्तराभावान्निर्गतश्चलनान्निश्चल. । नित्यो हि वस्तुत उत्पत्तिव्ययाभावात् सर्वकालत्वाच्च नित्यः । इति शुद्धस्वभाव ज्ञात्वा भव्यैस्तत्त्वविद्भिर्निरन्तरमनुभवनीय इति भावार्थ ॥७।

अथानु शुद्धभावस्य लक्षणं किमिति भगवान् देवसेनदेवः प्राह—

मूलगाथा—जो खलु सुद्धो भावो सो अप्पा त च दंसण णाण ।
चरण पि त च भणिय सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥८॥

संस्कृतच्छाया—य खलु शुद्धो भाव. स आत्मा त च दर्शन ज्ञानम् ।
चरणमपि तच्च भणितं सा शुद्धा चेतना अथवा ॥८॥

टीका—इत्यवतारिकानन्तरं टीकाकर्ता मुनि पदखण्डनारूपेण व्याख्यान करोति तथाहि—'जो खलु सुद्धो भावो' यो हि पूर्वोक्त खलु स्फुटं शुद्धो रागद्वेषमोहादिरहित , कोऽसौ भाव. आत्मनो भवन भ व । सो अप्पा त च दंसण णाण' स एव शुद्धभावो निश्चयनयत आत्मैव, तच्च पूर्वोक्त' प्रसिद्ध वा दर्शन दृश्यतेऽनेनेति स्व-परस्वरूप तद्दर्शनम् । ज्ञायतेऽनेनेति स्व-परद्रव्यं तज्ज्ञानम् । चरणं पि त च भणिय' 'चरण गति-भ्रमणयो । चर्यतेऽनेनेति स्वरूपे चरणं चारित्रमपि

आगैं शुद्ध भावकू कहै है—

भा० व०—खलु निश्चयकरि जो शुद्धभाव है सो आत्मा है। बहुरि सो ही दर्शन ज्ञान है। बहुरि सोही चारित्र कह्या है। अथवा शुद्ध चेतना कही है ॥८॥

प्रश्न—फिर भी वह शुद्धस्वभाव कैसा है ?

उत्तर—निश्चल है, क्योकि वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके चलनस्वभावसे रहित है।

प्रश्न—और वह शुद्ध स्वभाव कैसा है ?

उत्तर—वस्तुत उत्पत्ति और व्ययके अभाव होनेसे, तथा सर्वकाल स्थायी रहनेसे वह शुद्ध स्वभाव नित्य है।

इस प्रकारका शुद्ध स्वभाव जानकर तत्त्व-वेत्ता भव्य पुरुषोको निरन्तर ही उसका अनुभव करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७॥

अव शिष्यने पूछा—उस शुद्ध भावका लक्षण क्या है ? भगवान् देवसेनदेव उत्तर देते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो (खलु) निश्चयसे (सुद्धोभावो) शुद्धभाव है (सो) वह (अप्पा) आत्मा है। (त च) और वह आत्मा (दसण) दर्शनरूप (णाण) ज्ञानरूप (चरणपि) और चारित्ररूप (भणिय) कहा गया है। (अहवा) अथवा (सा) वह (सुद्धा) शुद्ध (चेयणा) चेतनारूप है।

टीकार्थ—इस प्रकारसे गाथाका अवतरण करनेके अनन्तर टीकाकर्त्ता मुनि उसका व्याख्यान करते है। यथा—'जो खलु सुद्धो भावो' जो पूर्वोक्त राग, द्वेप, मोहादि विकारी भावोसे रहित आत्मामे उत्पन्न होनेवाला भाव है, वही शुद्धभाव निश्चय नयसे दर्शन है। जिसके द्वारा स्व और परका स्वरूप देखा जाता है, वह दर्शन कहलाता है। वही शुद्ध भाव ज्ञान है। जिसके

स च शुद्धभावो भणित प्रोक्ता. कैं ? वीतरागसर्वज्ञैरिति । 'पुरुषप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यं भवतीति न्यायात्। 'सा सुद्धा चेयणा अहवा' अथवा या शुद्धा रागादिरहिता चेतना 'चिती सञ्ज्ञाने' चित् धातु, चेत्यते स्मर्यतेऽनया चेतना, सा चैतन्यरूपा आत्मैवेति ज्ञात्वा यत्र शुद्धभावस्तत्रैव सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं च, सम्यक्चारित्रमपि तत्रैव, स्वात्मा चिच्चमत्कारलक्षण इति ज्ञानवद्भि पुरुषैः स एव शुद्धभावो भाव्यो भव्यैर्भावनीयो भवतीति भावार्थ ॥८॥

इति श्री तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेव-विरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूतभव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगत-तत्त्व-परगततत्त्वलक्षणवर्णनं नाम प्रथमं पर्व समाप्तम् ॥१॥



द्वारा स्व और पर द्रव्य जाने जाते है, उसे ज्ञान कहते है। और वही चारित्र भी कहा गया है। 'चरण धातु' 'गति और भ्रमण के अर्थ वाली है। जिसके द्वारा आत्म-स्वरूपमे विचरण हो वह चरण अर्थात् चारित्र कहलाता है। इस प्रकार वह शुद्धभाव वीतराग सर्वज्ञोने दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप कहा है, क्योकि 'पुरुषकी प्रमाणता से वचनोकी प्रमाणता होती है, ऐसा न्याय है। 'सा सुद्धा चेयणा अहवा' अथवा जो रागादि-रहित शुद्ध चेतना है वह चैतन्यरूप आत्मा ही है। क्योकि 'चिती' धातु समीचीन ज्ञानार्थक है। जिसके द्वारा आत्मा चेतित अर्थात् स्मरण किया जाता है, वह चेतना कहलाती है। उस चेतनारूप ही आत्मा है, ऐसा जानकर अर्थात् जहा शुद्ध भाव हैं, वही दर्शन है, वही ज्ञान है और सम्यक् चारित्र भी है। इस प्रकारका चित्—चमत्कार लक्षण वाला अपना आत्मा है, ऐसा जानकर ज्ञानवान् भव्य पुरुषोको वही शुद्धभाव निरन्तर भावना करने योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥८॥

इस प्रकार अतिनिकट भव्यजनोको आनन्दकारी भट्टारक श्री कमलकीर्तिदेव-विरचित, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंहके हृदय-कमलको दिनकरके समान तत्त्वसारके इस विस्तारावतारमे स्वगततत्त्व और परगत तत्त्वके लक्षणका वर्णन करने वाला यह प्रथम पर्व समाप्त हुआ।



अथ द्वितीयं पर्व

श्रीशुद्धभावोऽमरसिंहकेऽस्मिन् श्रीमज्जिनेन्द्राङ्घ्रिपयोजभक्ते।
सल्लक्षणे पुण्यपदार्थयुक्ते एवंविधस्तिष्ठतु मुक्तिदोऽयम्॥

आशीर्वादः।

अथासन्नभव्येन केनचित्तत्त्वं ध्यातुकामेन युक्तिं पृष्टः, भगवान् श्रीदेवसेनदेवाख्य इति प्राह—

मूलगाथा—जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मुक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा॥१॥

संस्कृतच्छाया—यदविकल्पं तत्त्वं तत्सारो मोक्षकारणं तच्च।
तज्ज्ञात्वा विशुद्धं ध्यायत भूत्वा निर्ग्रन्थाः॥१॥

टीका—इत्यवतारिकां कृत्वा वृत्तिकारः पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति तद्यथा—'जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च' यत् पूर्वोक्तं स्वगततत्त्वं तत्सिद्धान्तसारभूतं, तदेव मोक्षस्य कारणम्। यतः स्वगततत्त्वे सति परम्परया मोक्षो भवतीति प्रसिद्धेः। 'तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा' तत्तत्त्वं निजात्मस्वरूपं विशेषेण शुद्धं विशुद्धं ज्ञात्वा भो भव्या, यदि

श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोके भक्त, उत्तम लक्षण वाले और पुण्य-पदार्थसे युक्त (पुण्यशाली) इस अमरसिंहके भीतर यह उपर्युक्त प्रकारका श्रीयुक्त शुद्धभाव सदा काल विराजमान रहे।

आगे शुद्धतत्त्वकी महिमा कहे है—

भा०व०—जो अविकल्प कल्पनाजाल-रहित ऐसा तत्त्व जो है सो ही सार है। बहुरि सो ही मोक्षका कारण है। सो विशुद्ध उज्ज्वल तत्त्वकू जाणि करि अर निर्ग्रन्थ होय करि ध्यान करहु॥१॥

अब तत्त्वका ध्यान करनेके इच्छुक किसी निकट भव्यके द्वारा ध्यान करनेकी युक्ति पूछने पर भगवान् श्रीदेवसेनदेवने कहा—

अन्वयार्थ—(जं) जो (अवियप्पं) निर्विकल्प (तच्चं) तत्त्व है, (तं) वही (सारं) सार है-प्रयोजभूत है। (तं च) और वही (मोक्ख कारणं) मोक्षका कारण है। (तं) उस (विशुद्धं) विशुद्ध तत्त्वको (णाऊण) जानकर (णिग्गंथो) निर्ग्रन्थ (होऊण) होकर (झायहु) ध्यान करो।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण कर टीकाकार उसका व्याख्यान करते हैं यथा-'जं अवियप्पं तच्चं' इत्यादि, जो पूर्वोक्त स्वगत तत्त्व है, वह सर्व सिद्धान्तका सारभूत है, और मोक्षका कारण है, क्योंकि स्वगत तत्त्वके प्राप्त होने पर परम्परासे मोक्ष प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है। 'तं णाऊण विसुद्धं' इत्यादि, वह तत्त्व निजात्मस्वरूप है और विशेष रूपसे शुद्ध अर्थात्

मोक्षाभिलाषिणः पञ्चप्रकारसंसारदुःखभीताश्च तर्हि तत्तत्त्वं ध्यायत। किं कृत्वा ? पूर्वं निर्ग्रन्थ्य-भूत्वा। ते ग्रन्था उच्यन्ते बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधा। तथाहि—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-कुप्याकुप्यभेदेन दशप्रकारा बाह्या ग्रन्था भवन्ति। मिथ्यात्व १ स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदेषु त्रिषु राग ३। हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्साः षट् ६। क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वारः कषायाः ४। इत्यन्तरङ्गाः ग्रन्थाः चतुर्दश। इत्युभयप्रकारेण चतुर्विंशति ग्रन्था निर्गता ग्रन्थेभ्यो ये ते निर्ग्रन्था। यतो निर्ग्रन्थत्वेन तत्त्वोपलब्धिरिति निर्ग्रन्थमुद्रावलम्बिभिर्मुनिभि स्वगततत्त्वं ध्यातव्यम्। इतरेश्च मध्यम-जघन्याराधकैरुपादेयबुद्धचा तस्मिन् तत्त्वे भावना च कर्तव्येति भावार्थः ॥९॥

अथ पुनरपि भट्टारकश्रीदेवसेनदेवा निर्ग्रन्थलक्षणमाहुः—

मूलगाथा—बहिरब्भन्तरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण।
सो णिग्गथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ समणो ॥१०॥

संस्कृतच्छाया—बाह्याभ्यन्तरग्रन्था मुक्ता येनेह त्रिविधयोगेन।
स निर्ग्रन्थो भणितो जिनलिङ्गसमाश्रितः श्रमणः ॥१०॥

आगैं निर्ग्रन्थता कू कहैं है—

भा० व०—या लोकविषैं जानैं मन वचन कायके जोग करि बाह्य तो दश प्रकार अर अभ्यन्तर चौदा प्रकार ग्रन्थ जे परिग्रह जे हैं ते त्याग्या है सो निर्ग्रन्थ कह्या है श्रमण कहिए मुनि। कैसा है मुनि, जिन लिंगकू आश्रय किया है ॥१०॥

विशुद्ध है, ऐसा जानकर भो भव्य पुरुषो ! यदि तुम लोग मोक्षके अभिलाषी हो, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाच प्रकारके परिवर्त्तन वाले ससारके दुखोसे भय-भीत हो, तो उस विशुद्ध तत्त्वका ध्यान करो।

प्रश्न—क्या करके ध्यान करें ?

उत्तर—निर्ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थसे—परिग्रहसे रहित हो करके ध्यान करो।

वे ग्रन्थ (परिग्रह) बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे गये है। यथा—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, कुप्य और अकुप्यके भेदसे बाह्य परिग्रह दश प्रकारके होते है। मिथ्यात्व १, स्त्रीवेदमे राग २, पुरुषवेदमे राग ३, नपुसकवेदमे राग ४, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह नोकषाय १०, और क्रोध, मान, माया लोभ ये चार कषाय १४। इस प्रकार अन्तरग ग्रन्थ चौदह प्रकार के होते है। ये वाह्य दश और अन्तरग चौदह प्रकार-के ग्रन्थ मिलकर चौवीस प्रकारके ग्रन्थोसे जो निर्गत अर्थात् निकल चुके हैं, सर्वथा रहित है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते है। यत निर्ग्रथतासे ही तत्त्वकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, अत निर्ग्रन्थ मुद्रा-धारक मुनिजनोको स्वगत तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। उनके सिवाय अन्य जो मध्यम आराधक देशव्रती श्रावक हैं और जघन्य आराधक अविरती सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, उन्हे उपादेय बुद्धिसे उस विशुद्ध तत्त्वमे भावना करनी चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥९॥

अब फिर भी भट्टारक श्री देवसेनदेव निर्ग्रन्थका लक्षण कहते है—

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक मे (जेण) जिसने (तिविहजोएण) मन, वचन, काय इन तीन प्रकारके योगोसे (बहिरब्भतरगथा) बाहिरी और भीतरी परिग्रहोको (मुक्का) त्याग दिया है,

टीका—अस्या गाथाया अवतारिकानन्तरं टीकाकारो विशेषार्थमाह—'बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण' एव पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्याभ्यन्तरग्रन्था येन आसन्नभव्येन कालादि-लब्धिवशात् सद्-गुरूपदेशाच्चैते ग्रन्था मुक्ता', इह जगति मनोवचनकाययोगेन त्रिविधेन 'सो णिग्गथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ समणो' स एव साक्षात् परमनिर्ग्रन्थैर्वीतरागसर्वज्ञै निर्ग्रन्थो भणित. कथितः। पुनश्च कथभूतो भणित.? जिनलिङ्गसमाश्रितः श्रमणो मुनिश्चेति मत्वा भव्यजनैर्जिनलिङ्गसमाश्रितैः निर्ग्रन्थरूपेण भवितव्यमिति भावार्थ. ॥१०॥

अथ हे भगवन्, ध्यानार्हमुनिलक्षण कीदृशमिति भगवानाह—

मूलगाथा— लाहालाहे सरिसो सुह-दुक्खे तह य जीविए मरणे।
बधु-अरियणसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई ॥११॥

संस्कृतच्छाया—लाभालाभयो सदृश सुख-दु खयोस्तथा च जीवित-मरणयो.।
बन्ध्वरिजनो समानो ध्यानसमर्थ स्फुटं स योगी ॥११॥

आगें ध्यानकी योग्यता कहै हैं—

भा० व०—प्रगट सो योगी मुनि है सो ध्यान समर्थ होय है। सो कैसा होय है लाभ जो भोजन कमडलु पीछी वसतिका इनिका लाभ विषै अथवा अलाभ होत सन्तै सदृश होय हैं। लाभ होहु, अथ मति होहु, दोऊ अवस्था विषैं जिनके समानता है। अर सुख जो शरीरादिक निरोग होत

(सो) वह (जिणलिंगसमासिओ) जिनेन्द्रदेवके लिंगका आश्रय करने वाला (समणो) श्रमण (णिग्गंथो) निर्ग्रन्थ (भणिओ) कहा गया है।

टीकार्थ—इस गाथाका उक्त अवतरण करनेके पश्चात् टीकाकार उसके विशेष अर्थको कहते है—'बहिरब्भतरगथा' इत्यादि, इस पूर्वोक्त प्रकारसे बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ जिस निकट भव्यने काल आदि लब्धिके वशसे और सद्‌गुरुके उपदेशसे इस जगत्मे मन वचन कायरूप त्रिविध योगसे छोडे है, 'सो णिग्गथो भणिओ' इत्यादि, वह ही साक्षात् परम निग्र'न्थ वीतराग सर्वज्ञोके द्वारा निर्ग्रन्थ कहा गया है।

प्रश्न—वह निर्ग्रन्थ किस प्रकारका कहा गया है?

उत्तर—जिनलिंग समाश्रित अर्थात् जिनेन्द्रदेवका परम वीतरागी निर्ग्रन्थ वेष है उसको धारण करने वाला श्रमण मुनि कहा गया है।

इस प्रकार जानकर जिन-लिंग के धारक भव्यजनोको परम शुद्ध निर्ग्रन्थ रूपवाला होना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१०॥

अव हे भगवन्! ध्यानके योग्य मुनिका लक्षण किस प्रकारका है? इसका उत्तर भगवान् देवसेनदेव देते है—

अन्वयार्थ—जो (लाहालाहे) लाभ और अलाभमे, (सुहदुक्खे) सुख और दु खमे (तह य) और उसी प्रकार (जीविए मरणे) जीवन तथा मरणमे (सरिसो) सदृश रहता है, इसी प्रकार (बधु-अरियणसमाणो) बन्धु और अरिमे समान भाव रखता है, (सो हु) निश्चयसे वही (जोई) योगी (झाण-समत्थो) ध्यान करनेमे समर्थ है।

टीका—इत्यवतारिकानन्तरमाचार्यो वृत्तिकृदाह। तद्यथा—'लाहालाहे सरिसो' भोजनादि-

---

सन्तें, अथवा सरोग होत सन्तें वेदना होत सन्तें सदृशता है। अर तैसें ही जीवित मरण कूँ होत सन्तें सदृशता हे। अर वन्धूजन अर वैरीजननि विषैं समानता है जिनकैं, ऐसें ते ही ध्यान समर्थ होय हे। भावार्थ—लाभ-अलाभ तौ अन्तरायकर्मकी खलासी अर उदयतैं होय है, तहाँ ज्ञानी विचारे है जो लाभ भया तो अन्तराय कर्मकी खलासीतैं भया, यामै कहा प्रीति करना। अनता प्राणीनिकै लाभ होय ही है। अर अन्तराय कर्मकी आधिक्यताते अनन्ता प्राणी सदा काल क्षुधित दलिद्री कदे-कदे पेट भरि नाही खाया, अर सार्विक उमरमै मन-वाछित वस्त्रादिक नाही मिले, अर रुपया महोरादिक नाही मिली। अर और देखहु अनतकाल परिभ्रमण करता भया, तहा अपणें अतरायकी खलासी माफिक आहार पाणी वस्त्रादिक भी मिल्या ही है। जो आजि लाभ न भया तो कहा भया, अर भया तो कहा भया, यह तो कर्माधीन है। अर मै कर्मनिकै आधीनता हित भया चाहूँ हूँ तो अब मेरें लाभमै रागीपना, अलाभमै उदासीपना काहे का ? अर मैं भी रागी द्वेषी भया तो ससारवर्ती प्राणी अर परमार्थमै प्रवर्त्या मै तामैं कहा विशेष रह्या ? ऐसा विचारि लाभ-अलाभ विषैं सदा प्रसन्न रहै है। अर तैसें ही सुख-दु ख विषैं समता जाणो, जो साता वेदनी करि सुखका उदय होय है, अर असाता वेदनीका उदयतैं नाना प्रकारका खास स्वास ज्वर भगदर कठोदर जलोदर खाजि कोड शिरशूल उदरशूल नेत्रशूल आदि अनेक दु ख उत्पन्न होत है। अर लोक नाना इलाज करै है, परन्तु असाताका उदयका अभाव विना आराम नही होता देखिये है। अर सातावेदनीका उदयकी आधिक्यता तौ स्वर्ग लोकविषैं है, तहा मन-स्मरणमात्र तो अमृतमई भोजन अर मनचाही महामनोहर देवागना महाभोग्य अर महा मनोहर है रूप जिनका, अर मनोहर है अग जिनका, अर सुदर शब्द अर नृत्य जिनका, अर अति मनोहर है सुगध अग विषैं जिनके, अर महा प्रवीण देवागना तिनिकै सभोग-जनित नाना स्वर्गसम्बन्धी सुख स्व-इच्छा विहार, नाना देवनि परि आग्या इत्यादिक नाना सुख भोगै। तहा हू तृप्त न भया तौ इहाके किंचित् मात्र सुख अल्प काल ता विषै कहा सुखका मानना ? पराधीन सुख काहे का सुख ? अर सुख तौ निजात्मामै जानना देखना वाला मै हूँ, तहा है, अन्य जायगा नाही। अर जीवना मरणा यह पर्याय अपेक्षा है। तहा भी आयुकर्मके आधीन मरणा जीवना है। सो सर्वज्ञदेवनै अच्छी तरहै देख्या है तैसै ही होयगा, कही तरहैका फरक नाही जाणना। इन्द्र धरणेन्द्र चन्द्र सूर्य चक्र-वर्ती तीर्थंकरादिक हू कर्माधीन प्राणीकू मरण जीवनतै नाही बचाय सकै है। तो अवश्य मरण है तामैं कहा शोक है ? अर जीवनेमे कहा हर्ष है। यह तो निज आयुका त्रिभागविषै पूर्वभवविषैं अपने ही परिणामनि करि बाधी सो अवश्य भोगनी है। यातैं जीवन-मरणमै सदा काल प्रसन्न रहै है। अर बन्धुजन अर वैरीजन तिन विषै भी समान है, इत्यादि ग्याताकैं ध्यान विषै समता होय है ॥११॥

टीकार्थ—इस प्रकार गाथाका अवतरण करके टीकाकार आचार्य उसका व्याख्यान करते

लाभ उतालाभो वा लाभश्च अलाभश्च लाभालाभौ, तयोर्लाभालाभयो । पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मफलभूतयो भेदज्ञानप्रभावाद् हर्ष-विषादाभावाच्च य एव समानः स समचित्तो योगी । 'सुह-दुक्खे जीविए मरणे' तथा च शुभाशुभकर्मजातयो सुख-दुःखयो., आयु.कर्मोदय-क्षयोत्पन्नयोः जीवित मरणयोः, तथैव सम्भूतयो. 'बंधु-अरियणसमाणो बन्ध्वरिजनयोः सतो सदृश समानमाना राग-द्वेषाद्यभावात् । एव गुणविशिष्टो योगी योगो विद्यते यस्यासौ योगी । अस्य व्युत्पत्ति क्रियते—युजित् योगो यः कर्ता आत्मनि आत्मना आत्मने निमित्त आत्मन सकाशाद् आत्मानं युनक्तीत्येवं शीलो योगी । उक्त च—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका ॥२०॥

'झाणसमत्थो हु सो जोई' स एव पूर्वोक्तो हि योगी हु स्फुटं ध्यानसमर्थो भवतीति क्रियाध्याहार. क्रियते । इति साम्यमाहात्म्यं ज्ञात्वा तज्ज्ञैर्भव्यजनैरुपादेयबुद्ध्या स एव साम्यभावो निरन्तरं भावनीयो भवतीति भावार्थ. ॥११॥

है—'लाहालाहे सरिसो' इत्यादि, भोजनादिका लाभ हो, अथवा लाभ न हो, क्योकि ये लाभ और अलाभ दोनो ही पूर्वोपार्जित शुभ और अशुभ कर्मके फलरूप है, उनमे जो भेद-विज्ञानके प्रभावसे और हर्ष-विषादके अभावसे समान रहता है, वह समचित्त योगी 'सुह-दुक्खे' इत्यादि, शुभ-अशुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए सुख-दुःखमे, तथा आयुकर्मके उदयसे प्राप्त जीवनमे और उसके क्षयसे प्राप्त मरणमे, तथा उसी प्रकार पुण्य-पापके उदयसे प्राप्त हुए बन्धुओ और शत्रुओमे राग-द्वेष आदि के अभावसे समान भाव रखता है, इस प्रकारके गुणोसे युक्त विशिष्ट योगी ध्यान करनेमे समर्थ होता है । 'युज्' धातु युक्त या सलग्नताके अर्थवाली है । अत योग शब्दका अर्थ सलग्नता है । वह योग जिसके पाया जावे, उसे योगी कहते है । ऐसा योगीरूप कर्ता अपने आत्मामे, अपने आत्माके द्वारा, अपने आत्माके निमित्त आत्मासे आत्माको जोडता है, इस प्रकारके शील-स्वभाववाला व्यक्ति योगी कहलाता है । कहा भी है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध, और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ॥२०॥

'झाणसमत्थो हु सो जोई' वही पूर्वोक्त योगी स्फुट रीतिसे सम्यक् प्रकार ध्यान करनेमे समर्थ होता है । यहा पर 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है । इस प्रकारका साम्यभाव या योगका माहात्म्य जानकर योगके जानकार भव्यजनोंको उपादेय बुद्धिसे वही साम्यभाव निरन्तर भावना करनेके योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥११॥

अथानु कथं ध्यानसमर्थो भवतीति पृष्टे सति भगवानाह—

मूलगाथा—कालाइलद्धि णियडा जह जह सभवइ भव्वपुरिसस्स ।
तह तह जायइ णूण सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठ ॥१२॥

संस्कृतच्छाया—कालादिलब्धिः निकटा यथा यथा संभवति भव्यपुरुषस्य ।
तथा तथा जायते नून सुसर्वा सामग्री मोक्षार्थम् ॥१२॥

टीका—इत्यवतारिकानन्तरमाचार्यश्रीकमलकीर्त्तिराह—'कालाइलद्धि' संसारासन्नतारूप-सामान्यकालः, विशेषेण तु मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृति-सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभानां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमरूपो विशेषकालः। आदिशब्देन पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्त प्राप्तार्य-क्षेत्र-भावशुद्धि-सद्-गुरूपदेशादि. । एवं काल आदिर्यस्यां सा कालादि, कालादिश्चासौ लब्धिश्च-कालादिलब्धि 'णियडा' निकटा समीपा आसन्ना 'जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स' यथा यथा येन येन प्रकारेण यथा यथा संभवति घटते सम्पद्यते । कस्य ? भव्वपुरिसस्स । पूर्वोक्तो भव्यश्चासौ पुरुषश्च भव्यपुरुष , तस्य भव्यपुरुषस्य । 'तह तह जायइ णूण सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठ' तथा तथा जायते उत्पद्यते नूनं निश्चयेन, भ्रान्तेरभावात् । काऽसौ ? सामग्री । कियती ? सुसर्वा सुष्ठु अतिशयेन

भा० व०—भव्य पुरुषकै कालादिलब्धि ससार-निकटारूप सामान्य काल है । अर विशेष-पणाकरि मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ सप्त प्रकृतिनिका उपशम तो विशेपकाल आदि शब्द करि पचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त, अर प्राप्त भया आर्यक्षेत्र भावशुद्धि सद्-गुरु उपदेशादिक इत्यादिक तो काललब्धि जानना । सो कालादि लब्धि जैसैं जैसैं निकट होय है, तैमें तैमें मोक्षके अर्थि सुन्दर सर्व सामग्री निश्चयतें होय है ॥१२॥

अथानन्तर भव्य पुरुप ध्यान करनेमे समर्थ कैसे होता है ? ऐसा पूछनेपर भगवान् देवसेन कहने हैं—

अन्वयार्थ—(जह जह) जैसे जैसे (भव्वपुरिसस्स) भव्य पुरुपकी (कालाइलद्धि) काल आदि लब्धिया (णियडा) निकट (सभवइ) आती जाती हैं, (तह तह) वैसे वैसे ही (णूण) निश्चयसे (मोक्खट्ठ) मोक्षके लिए (सुसव्वसामग्गि) उत्तम सर्व सामग्री (जायइ) प्राप्त हो जाती है ।

टीकार्थ—इस गाथाका उक्त अवतरण करनेके पश्चात् टीकाकार आचार्य श्री कमलकीर्ति इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'कालाइलद्धि' इत्यादि, काललब्धि अर्थात् ससारकी निकटता-रूप सामान्य कालकी प्राप्ति, और विशेषरूपसे मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उपशमरूप विशेषकालकी प्राप्ति । आदि शब्दसे पचेन्द्रियपना, सज्ञिपना, पर्याप्तकता, आर्य क्षेत्रकी प्राप्ति, भाव-विशुद्धि, और सद्-गुरुका उपदेश आदिकी प्राप्ति । इस प्रकार काल है आदिमें जिनके ऐसी काल आदि लब्धिया 'जह जह सभवइ भव्वपुरिसस्स' भव्य पुरुषके जैसे-जैसे जिस जिस प्रकारसे सभव, घटित या प्राप्त होती जाती है, उस भव्य पुरुपके 'तह तह जाइय णूण सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठ' उस उस प्रकार निश्चयसे सुसर्व सामग्री प्राप्त होती जाती है, इसमे कोई भ्रान्ति या सन्देह नहीं है ।

प्रश्न—सुसर्व सामग्रीका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सु अर्थात् अतिशय-युक्त सुन्दर-श्रेष्ठ समस्त सामग्रीका अभिप्राय है ।

समस्ता। कीदृशी सा? सम्यक्त्वादि पञ्चाणुव्रत-पञ्चमहाव्रत-धर्मध्यान-शुक्लध्यानपर्यन्ता सर्वा स्यात्। किमर्थम्? मोक्षार्थम्। ए एव पूर्वोक्तो मोक्षस्तस्य हेतु कारण भवतीति ज्ञात्वा तज्ज्ञैः पुरुषै. कालादिलब्धि लब्ध्वा स्वोचितेषु कार्येषु सावधानैर्भवितव्यम्। यत सावधानमन्तरेण किमपि न लभ्यत इति भावार्थ ॥१२॥

अथ लब्धासु सर्वासु सामग्रीष्वपि ध्यानेन विना कार्यं न सिद्धचतीत्याह—

मूलगाथा—चलणरहिओ मणुस्सो जह वछइ मेरुसिहरमारुहिउ ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खय साहू ॥१३॥

सस्कृतच्छाया—चलनरहितो मनुष्यो यथा वाञ्छति मेरुशिखरमारोढुम् ।
तथा ध्यानेन विहीन इच्छति कर्मक्षयं साधु ॥१३॥

टीका—'चलणरहिओ' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यान करोति—'जह' यथा, 'मणुस्सो' कश्चिन्मनुष्य, 'चलणरहिओ' 'चलनौ पादौ ताभ्या रहितो विकलः सन् 'वछइ' वाञ्छति,

---

आगैं कहैं है ध्यान बिना मोक्ष नाही होय है—

भा० व०—जैसे चरण-रहित मनुष्य है सो मेरुका शिखरकू चढनेकू वाँछा करै है, तैसैं ही ध्यान करि रहित साधू है सो कर्मको क्षय ताहि इच्छा करै है। भावार्थ—ध्यान बिना कर्मका क्षय नाही होय है, अर कर्म-क्षय बिना मोक्ष नाही होय है ॥१३॥

प्रश्न—वह सुसामग्री कौनसी और किस प्रकारकी है?

उत्तर—आदिमे सम्यक्त्व, पुन पच अणुव्रत, पुन पच महाव्रत, पुन धर्मध्यान और अन्तमे शुक्लध्यानकी प्राप्ति होना यह सुसर्व सामग्री है।

प्रश्न—किसलिए इस सुसर्व सामग्रीकी आवश्यकता है?

उत्तर—मोक्ष-प्राप्तिके लिए इस उत्तम सर्व सामग्रीकी आवश्यकता है।

इस प्रकारसे मोक्षकी कारणभूत इस सर्व सामग्रीको जानकर ज्ञानी पुरुषोको कालादिलब्धि पाकर अपने योग्य अर्थात् अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुकूल उक्त उचित कार्योमे सावधान होना चाहिए, क्योकि सावधान हुए बिना कुछ भी प्राप्त नही होता है, यह इस गाथाका भावार्थ हैं ॥१२॥

अब आचार्य कहते हैं कि उक्त सर्व सामग्रीके प्राप्त होनेपर भी ध्यानके बिना कर्म-क्षयरूप कार्य सिद्ध नहीं होता है—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (चलण-रहिओ) पाद-रहित (मणुस्सो) मनुष्य (मेरु-सिहर) सुमेरु पर्वतके शिखरपर (आरुहिउ) चढनेके लिए (वछइ) इच्छा करे, (तह) वैसे ही (झाणेण) ध्यानसे (विहीणो) रहित (साहू) साधु (कम्मक्खय) कर्मोंका क्षय (इच्छइ) करना चाहता है।

टीकार्थ—'चलणरहिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार अर्थ-व्याख्यान करते हैं—जैसे दोनो पैरोंसे रहित कोई मनुष्य मेरु पर्वतके शिखरपर चढनेकी इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा

किं कर्तुम् ? 'मेरुसिहरमारुहिउं' आरोढुम् । किं तत् ? मेरो शिखरम् । 'तह झाणेण विहीणो' तथा स्वगततत्त्वपरगततत्त्वज्ञ ध्यानेन विहीनो विकलः कश्चिदाराधकाभास । आराधकाभास इति कोऽर्थ ? आराधकलक्षणरहित आराधकवदवभासमान आराधकाभास । यथा जलाभासा मृगमरीचिका इत्यर्थः । 'इच्छइ कम्मक्खयं साहू' इच्छति वाञ्छति, कर्मक्षयं द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मणा क्षय कर्मक्षयः, तं कर्मक्षयम् । क इच्छति ? साधु । साधुशब्देन यतिजन एव प्राप्यते, यतः कारण मन्तरेण कार्यं न सिद्धयतीति मत्वा जिनोक्तनयविभागेन मोक्षाभिलाषिणा ध्यानवता भाव्यमिति भावार्थः ॥१३॥

अथ ये सम्प्रति वर्तमानकाले ध्यानं न मन्वते तेषां लक्षणमाहु —

मूलगाथा—सका-कखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एव भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥

संस्कृतच्छाया—शङ्का काङ्क्षागृहीता विषयप्रसक्ताः सन्मार्गप्रभ्रष्टाः ।
एव भणन्ति केचन न हि कालो भवति ध्यानस्य ॥१४॥

टीका—'एव भणंति केई' एवमिति वक्ष्यमाणकालमपेक्ष्यते । भणन्ति कथयन्ति केचन

आगे कहै है केई मिथ्यात्वी ऐसैं कहै हैं अबार ध्यानका काल नाही—

भा० व०—केई मनुष्य या प्रकार कहै है निश्चय करि ध्यानका काल नाही है। कैसे है ते मनुष्य ? शका काक्षा करि ग्रस्या, अर पच इद्रियनिका विषयनि विषैं आसक्त अर भले मार्गतैं विशेषपणा तैं भ्रष्ट ऐसैं ध्यानका अभ्यास कू कहै है ॥१४॥

निरर्थक है, उसी प्रकार यदि कोई साधु स्वगततत्त्व और परगततत्त्वका ज्ञाता होकरके भी ध्यानके बिना कर्मोंके क्षय करनेको इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा जल-सदृश प्रतीत होनेवाली मृगमरीचिकाके समान व्यर्थ है, क्योकि ध्यानके बिना धर्मकी आराधना करनेवाला व्यक्ति सच्चा आराधक नही, किन्तु आराधकाभास है। जो आराधकके यथार्थ लक्षणसे रहित हो और आराधकके समान प्रतीत हो, उसे आराधकाभास कहते है। अनादि कालसे सबद्ध द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादि, भावकर्म—राग-द्वेषादि और नोकर्म—शरीरादिका क्षय करना ध्यानके बिना असभव है। गाथा-पठित साधु शब्दसे यतिजनका ही अभिप्राय है। कर्म-क्षयका कारण ध्यान ही है, अत कारणके विना कर्मक्षयरूप कार्य सिद्ध नही हो सकता है, ऐसा जानकर जिनदेव-भापित नय-विभागको जानकर मोक्षके अभिलाषी पुरुषको ध्यानवाला होना चाहिए, अर्थात् ध्यानका अभ्यास करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१३॥

अब आचार्य उन पुरुषोका लक्षण कहते है जो यह मानते है कि इस वर्तमानकालमे ध्यानका होना सभव नही है—

अन्वयार्थ—(सका-कखागहिया) शकाशील और विषय-सुखकी आकाक्षावाले, (विसयपसत्ता) इन्द्रियोके विषयोमे आसक्त (सुमग्गपब्भट्ठा) और मोक्षके सुमार्ग से प्रभ्रष्ट (केई) कितने ही पुरुष (एव) इस प्रकार (भणंति) कहते हैं कि (कालो) यह काल (झाणस्स) ध्यानके योग्य (ण हु) नही (होइ) है।

टीकार्थ—'एव भणंति केई' इन चरणमे पठित 'एव' पद वक्ष्यमाण-वर्तमान कालकी अपेक्षा करता है। कितने ही ससारी जीव ऐसा कहते हैं कि यह वर्तमानकाल ध्यान योग्य नही है।

संसारिणो जीवाः। कथम्भूतास्ते ? 'संका-कंखागहिया' शङ्का-काङ्क्षा पूर्वोक्तलक्षणा, ताभ्यां गृहीता ग्रसिता वा। पुनश्च कथम्भूताः। पुनरपि किं विशिष्टा ? सन्मार्गात् समीचीनमार्गात् प्रकर्षेण भ्रष्टा 'विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा' विषयप्रसक्ता पञ्चेन्द्रियविषयेष्वासक्ता लम्पटा'। यतस्ते मोहान्धास्तत एव कारणात्, ध्यानाभाव कालमिमं प्रलुम्पयन्तीति प्रभ्रष्टा सन्तः। किं भणन्ति ? 'ण हि कालो होइ झाणस्स' कालोऽयं स्फुटं यथा ध्यानस्यार्हो न भवतीति भावार्थं ॥१४॥

अथ भट्टारकश्रीदेवसेनदेवास्तान् सुगृहीतध्यानाभावान् जीवान् सम्बोधयन्ति—

मूलगाथा—अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाण ॥१५॥

संस्कृतच्छाया—अद्यापि त्रिरत्नवन्त आत्मानं ध्यात्वा यान्ति सुरलोकम्।
ततश्च्युत्वा मनुजत्वे उत्पद्य लभन्ते निर्वाणम् ॥१५॥

आगैं कहैं है अबार भी रत्नत्रयशुद्ध परपरा करि मोक्ष जाय है—

भा० व०—अबार हू तीन रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रवान् ऐसा साधू है ते आत्माकू ध्याय करि सुरलोक विषैं जाय हैं, तहा तैं चय करि मनुष्यपणा विषैं उपजि करि निर्वाणकू ही प्राप्त होय है।

भावार्थ—अबार पचमकालविषे दु:खमकालविषैं तीन रत्नवान् आत्माकू ध्यान करि स्वर्गलोक जाय है। अर स्वर्गलोक तैं चयकरि मनुष्यपणा विषैं तीन वर्ण क्षत्री ब्राह्मण वैश्य इनिमैं

प्रश्न—वे ससारी जीव कैसे है ?

उत्तर—शका और काक्षासे गृहीत है। अर्थात् उन्हे जिन-वचनोमे शका है और वे विषय-सुखोकी आकाक्षासे ग्रसित है।

प्रश्न—पुन वे जीव कैसे है ?

उत्तर—पच इन्द्रियोके विषय-जनित सुखमे आसक्त है, अर्थात् लम्पट हो रहे है।

प्रश्न—पुन वे जीव कैसे है ?

उत्तर—सुमार्गसे प्रभ्रष्ट है। अर्थात् मोक्षका रत्नत्रयस्वरूप जो समीचीन मार्ग है, उससे सर्वथा भ्रष्ट हो रहे हैं ?

उक्त प्रकारके विषयासक्त और सन्मार्ग-भ्रष्ट मनुष्य कहते है कि यह वर्तमान काल ध्यानके योग्य नही है, उनके ऐसा कहनेका कारण यह है कि वे मोहसे अन्धे हो रहे हैं, और इसी कारण वे इस कालमे ध्यानका अभाव बताकर ध्यानका लोप करना चाहते है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१४॥

अब भट्टारक श्री देवसेनदेव ध्यानका अभाव कहनेवाले उन जीवोको सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अज्जवि) आज भी (तिरयणवता) रत्नत्रय-धारक मनुष्य (अप्पा) आत्माका (झाऊण) ध्यानकर (सुरलोय) स्वर्गलोकको (जंति) जाते हैं, और (तत्थ) वहासे (चुया) च्युत होकर (मणुयत्ते) उत्तम मनुष्यकुलमे (उप्पज्जिय) उत्पन्न हो (णिव्वाण) निर्वाणको (लहहि) प्राप्त करते हैं।

टीका—'अज्जवि तिरयणवंता' इत्यादि पदखण्डनारूपेण टीकाकारो मुनिर्व्याख्यानं करोति। तथाहि—भो भव्यजना यूयं जिनोक्तनयविभागेनानभिज्ञाः सन्तो ध्यानमाहात्म्यं न जानीथ इति। किं तत् ? अद्यापि पञ्चमकलौ दुःखमकाले केचन सन्तो भव्यजीवा एवंविधाः सन्ति त्रिरत्नवन्तः—त्रयाणां रत्नानां समाहारस्त्रिरत्नम्, द्वन्द्वैकत्वम् 'द्वन्द्वसमासैकत्वम्'। त्रिरत्नं विद्यते येषां ते त्रिरत्नवन्तः। 'अप्पा झाऊण जंति सुरलोए' आत्मानं ध्यात्वा सम्यगेकाग्रचित्तेन ते सुरलोकं यान्ति गच्छन्तीति कालस्यानुसारेण वाञ्छितसुखं भुक्त्वा। 'तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं' ततः स्वर्गलोकाच्च्युत्वा मनुष्यत्वे वर्णत्रयमध्ये उत्तमकुलजातमनुष्यभवे समुत्पद्य राजाधिराज-महाराजार्धमण्डलेश्वर-मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर-बलभद्रार्धचक्रि-सकलचक्रवर्तितीर्थंकृत्प्रमुखानां पुरुषोत्तमानां मध्ये चैकतमं पदं प्राप्याभिलषितसुखमनुभूय च किञ्चिन्निमित्तं वैराग्यकारणं लब्ध्वा राज्यादिकं त्यक्त्वा जिनोक्तशिक्षां दीक्षां च प्रतिपाल्य निर्विकारचित्तेन भेदाभेदरत्नत्रयभावनास्वरूपेण शुद्धात्मानमाराध्य कर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभन्ते। हीति मत्वा

उत्तम कुल जाति मनुष्यभवविषैं उपजि राजाधिराज महाराजा अर्धमंडलेश्वर बलभद्र सकलचक्री तीर्थंकृत मुख्यनिमैं कोई एक श्रेष्ठ पद पाय अर मनोवांछित सुखकू ही अनुभव करि, अर कोई एक वैराग्यकारणकू प्राप्त होय राज्यादिकनिकू त्यागि अर जिनोक्त दीक्षा पालिकरि निर्विकार चित्त करि भेदाभेद रत्नत्रय भावना स्वरूप करि शुद्धात्माकू आराधि कर्मका क्षयकू करि निर्वाणकू प्राप्त होय है। या प्रकार मानि मोक्षका वांछक भव्यनिनैं जिनोक्त धर्मध्यानविषैं श्रद्धानपूर्वक उद्यमविषैं तत्पर होना योग्य है ॥१५॥

टीकार्थ—टीकाकार कमलकीर्ति मुनि 'अज्जवि तिरयणवंता' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है—उक्त प्रकारके विषयासक्त और ध्यानका अभाव कहनेवाले लोगोको सम्बोधन करते हुए वे कहते है—भो भव्यजनो, तुम लोग जिन-प्ररूपित नयोके विभागसे अनभिज्ञ होते हुए ध्यानके माहात्म्यको नही जानते हो कि आज भी इस दुःखम पंचम कलिकालमे कितने ही त्रिरत्नवन्त सन्त भव्य जीव हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन धर्मरूप रत्न हैं। तीन रत्नोंके समाहारको त्रिरत्न कहते है। ये त्रिरत्न जिनके पाये जाते हैं, वे त्रिरत्नवन्त कहलाते है। अर्थात् रत्नत्रयात्मक धर्मके धारण करनेवाले भव्य जीव 'अप्पा झाऊण जंति सुरलोय' आत्माका एकाग्र चित्तसे ध्यान करके देवलोकको जाते है और वहांपर अपनी आयुस्थितिके अनुसार वांछित सुख भोगकर 'तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं' उस स्वर्गलोकसे च्युत होकर मनुष्यत्वमे अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन वर्णोके मध्यमे उत्तमकुलीन मनुष्यभवमे उत्पन्न होकर, राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलभद्र, अर्धचक्री, सकलचक्रवर्ती और तीर्थंकर-प्रमुख पुरुषोत्तमोंके मध्यमेंसे किसी एक पदको प्राप्त कर, तथा उनके अभिलषित सुखोंका अनुभव कर और किसी निमित्तभूत वैराग्यका कारण पाकर राज्यादिक सम्पदाका त्याग कर और जिन-प्ररूपित शिक्षाको ग्रहण कर तथा दीक्षाका भलीभांतिसे निर्विकार चित्त होकर परिपालन कर भेद-अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनाके द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपकी आराधना करके सर्व कर्मोंका क्षय करके निर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसा जानकर मोक्षाभिलाषी भव्य

मोक्षाभिलाषिभिर्भव्यैर्जिनोक्तधर्मध्यानेषु श्रद्धानपूर्वकमुद्यमपरायणैर्भवितव्यमिति भावार्थं ॥१५॥

अथ सूत्रकारो भव्यजनार्हां युक्तिं दर्शयति—

मूलगाथा—तम्हा अब्भसऊ सया मोत्तूण राय दोस वा मोहे ।
झायउ णिय अप्पाण जइ इच्छह सासय सोक्ख ॥१६॥

संस्कृतच्छाया—तस्मादभ्यसत सदा मुक्त्वा राग-द्वेषौ वा मोहम् ।
ध्यायत निजात्मानं यदीच्छत शाश्वतं सौख्यम् ॥१६॥

टीका—'तम्हा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकारो व्याख्यानं करोति—'जइ इच्छह' भो भव्यजना यदि चेदिच्छत, किं तत् ? 'सासयं सोक्खं' शाश्वत स्वाधीनमविनश्वरं सौख्यम् । 'तम्हा अब्भसऊ सया' तस्मात् कारणात् सदा सर्वकाल निरन्तरं सद्गुरूपदेशेन ध्यानमभ्यसत—अभ्यासं कुरुत । ध्यानाधिकाराद् ध्यानमेव प्राप्यते । किं कृत्वा ? पूर्वं 'मुत्तूणं रायदोस वा मोहे' मुक्त्वा, कौ ? राग-द्वेषौ । वा अथवा मोहमपि । पश्चात् किं कुरुत ? 'झायउ णियअप्पाण'

आगैं कहैं हैं ताही कारणतैं ध्यानका अभ्यास करहू—

भा० वा०—ताही कारणतैं सदाकाल निजआत्माकूं ही ध्यावहू, अर अभ्यास करहू, अर राग द्वेष वा मोहकूं छाडिकरि जो शाश्वता सुखकूं इच्छा करो हो तो ॥१६॥

पुरुषोको जिनोक्त धर्मध्यानमे श्रद्धान-पूर्वक उद्यम करने मे तत्पर होना चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१५॥

अब गाथासूत्रकार आ० देवसेन भव्यजनोके योग्य युक्तिको दिखलाते है—

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिए (जइ) यदि (सासय) शाश्वत (सुक्ख) सुखको (इच्छह) चाहते हो तो (राय दोस वा मोहे) राग, द्वेष और मोहको (मोत्तूण) छोडकर (सया) सदा (अब्भसउ) ध्यानका अभ्यास करो और (णिय-अप्पाण) अपनी आत्माका (झायउ) ध्यान करो ।

टीकार्थ—अब टीकाकार 'तम्हा अब्भसउ' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—'जइ इच्छह' भो भव्यजनो, यदि उस शाश्वत स्वाधीन और अविनश्वर सुखको चाहते हो 'तम्हा अब्भसउ सया' तो इसके लिए सदा सर्वकाल निरन्तर सद्गुरुके उपदेशानुसार ध्यानका अभ्यास करो । यहा ध्यानका अधिकार होनेसे 'ध्यान' पदका अध्याहार प्राप्त होता है ।

प्रश्न—क्या करके ध्यानका अभ्यास करें ?

उत्तर—'मोत्तूण राय दोस वा मोहे' अर्थात् रागको, द्वेषको और मोहको छोडकर ध्यानका अभ्यास करो क्योकि इन राग-द्वेषादिका त्याग किये विना ध्यानकी प्राप्ति असभव है ।

प्रश्न—पुन. क्या करें ?

उत्तर—'झायउ णिय अप्पाण' अर्थात् फिर अपनी शुद्ध-बुद्ध, चिदानन्दमय आत्माका ध्यान करो ।

ध्यायत निजात्मानम्। तथाहि-युक्ति दर्शयति-प्राणिना परिणामाना त्रैविध्यम्। कथम्? एकेऽशुभरूपा परिणामा, अन्ये शुभरूपास्तदभावाच्छुद्धा एव भवन्ति। ततोऽशुभरूपान् परिणामांस्त्यक्त्वा स्वाश्रमयोग्यशुभोपयोगेपु वर्तंत। किमर्थम्? दुर्ध्यानवञ्चनार्थ ससारस्थितिच्छेदनार्थं च तावत्काल प्रवर्तत, यावच्छुद्धोपयोग प्राप्नुवन्तीति मत्वा शुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा ध्यायतीति भावार्थ.॥१६॥

अथ भगवान् सूत्रकृदात्मलक्षण लक्षयति—

मूलगाथा—दसण-णाणपहाणो असखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा॥१७॥

सस्कृतच्छाया—दर्शन-ज्ञानप्रधानोऽसख्यातप्रदेश स्फुटं मूर्त्तिपरिहीन।
स्वगृहीतदेहप्रमाणो ज्ञातव्य ईदृश आत्मा॥१७॥

आगे कहै हैं राग द्वेषकौ त्याग करि निरजन आत्माका ध्यान करो ऐसी प्रेरणा करै हैं—

भा० व०—निश्चय करि आत्मा ऐसा जानने योग्य है—दर्शन ज्ञान है प्रधान जाकै, अर असख्यातप्रदेशी मूर्त्ति-रहित अमूर्त है, अर अपनी ग्रहण कीई देहकै प्रमाण है॥१७॥

उक्त प्रकारसे करनेमे आचार्य युक्ति दिखलाते है—जीवोके परिणाम तीन प्रकार के होते है—कितने ही परिणाम हिंसादि तो अशुभरूप होते है। कुछ परिणाम दया-दानादिरूप शुभ होते है। और कुछ परिणाम शुभ-अशुभभावके अभावसे शुद्धरूप होते है। इसलिए सर्वप्रथम अशुभ परिणामोको छोडकर अपने आश्रम या पदके योग्य शुभोपयोगमे प्रवृत्ति करो।

प्रश्न—किसलिए शुभोपयोगमे प्रवृत्ति करें?

उत्तर—आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए और ससारकी स्थितिका छेदन करनेके लिए उस समयतक शुभोपयोगमे प्रवृत्ति करनी चाहिए, जब तक कि शुद्धोपयोग प्राप्त होवे।

ऐसा समझकर शुद्धोपयोगके द्वारा शुद्धात्मा ही ध्यान करनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है॥१६॥

अब सूत्रकार भगवान् देवसेन आत्माका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हु) निश्चयनयसे आत्मा (दसण-णाणपहाणो) दर्शन और ज्ञानगुण प्रधान है, (असखदेसो) असख्यात प्रदेशी है, (मुत्तिपरिहीणो) मूर्त्तिसे रहित है, (सगहियदेहपमाणो) अपने द्वारा गृहीत देह-प्रमाण है। (एरिसो) ऐसे स्वरूपवाला (अप्पा) आत्मा (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीका—इत्यवतारिका कृत्वा विशेषमाह—तद्यथा, 'णायव्वो एरिसो अप्पा' आसन्नभव्यै-र्भेदज्ञानिभि ज्ञातव्यो भवति। कोऽसौ ? ह्यात्मा। कथम्भूत. ? ईदृग्। कीदृगिति 'दसण-णाणपहाणो' दर्शन-ज्ञानप्रधान —केवलदर्शन केवलज्ञान च, ताभ्या प्रधानो दर्शन-ज्ञानप्रधान । पुनश्च कथ-म्भूत ? 'असंखदेसो हु' असंख्यातप्रदेश —लोकमात्रासख्यातप्रदेशप्रमाण । पुनरपि कथम्भूत ? 'मुत्ति परिहीणो । मूर्त्तिस्तु स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवती मूर्त्ति, तया मूर्त्या परि समन्तात् हीन रहितः परिहीन., निश्चयनयेन मूर्त्तिपरिहीनः। पुनश्च कि विशिष्ट. ? 'सगहियदेहपमाणो' व्यवहारनयेन वर्तमानकाले स्वगृहीतदेहप्रमाण, जघन्येनाङ्गुलासख्यातभागप्रमाण.। उत्कृष्टेन स्वयम्भूरमण-समुद्रमध्ये योजनाना सहस्रैकप्रमाणो देहो भवति। तत पूर्वोपार्जितनामकर्मोदयजनितशरीर-प्रमाणोऽयमात्मेति ज्ञात्वा वस्तुतस्तत्त्वविद्भि । पुरुषै सर्वकालमुपादेयबुद्ध्या ज्ञातव्योऽनुभवनीयश्च भवतीति भावार्थः ॥१७॥

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण करके अब उसका विशेष अर्थ कहते है—यथा 'णायव्वो एरिसो अप्पा' निकट भव्य भेदज्ञानी पुरुषोको इस प्रकारका आत्मा जानना चाहिए।

प्रश्न—वह आत्मा किस प्रकारका है ?

उत्तर—'दसण-णाणपहाणो' अर्थात् आत्मामे जो अनन्त गुण हैं, उनमेसे केवल दर्शनरूप अनन्त दर्शन और केवल ज्ञानरूप अनन्तज्ञान, इन दो प्रधान गुणवाला है।

प्रश्न—पुन वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर—'असखदेसो हु' अर्थात् लोकाकाशके समान असख्यात प्रदेशप्रमाणवाला है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है ?

उत्तर—'मुत्तिपरिहीणो' अर्थात् मूर्त्तिसे रहित है। जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जावें, उसे मूर्त्ति कहते हैं। निश्चयनयसे वह आत्मा उक्त प्रकारकी मूर्त्तिसे सर्वथा रहित है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसी विशेषतासे युक्त है ?

उत्तर—'सगहियदेहपमाणो' अर्थात् व्यवहारनयसे वर्तमानकालमे अपने द्वारा गृहीत शरीर प्रमाण हे जो कि सूक्ष्मनिगोदिया जीवोकी अपेक्षा जघन्यसे अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण देह-वाला है और उत्कृष्टरूपसे स्वयम्भूरमण समुद्रके मध्यमे अवस्थित एक हजार योजनवाले महा-मत्स्यके देह-प्रमाण है। इसलिए वह ससारी जीवोकी अपेक्षा पूर्वोपार्जित नामकर्मके उदयसे उत्पन्न शरीर-प्रमाण है।

इस प्रकारसे वास्तविक तत्त्ववेत्ता पुरुषोको अपने आत्माका स्वरूप जानकर सर्वकाल ही उपादेय बुद्धिसे आत्माका परिज्ञान और अनुभव करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१७॥

अथ कथमात्मा ध्यातव्यो भवतीति भगवानाह—

मूलगाथा—रागादिया विभावा वहिरतर-उहयवियप्प मोत्तूण ।
एयग्गमणो झायउ णिरजणं णियय-अप्पाण ॥१८॥

संस्कृतच्छाया—रागादिकान् विभावान् बाह्याभ्यन्तरान् उभयविकल्पान्मुक्त्वा ।
एकाग्रमना ध्यायतु निरञ्जनं निजकात्मानम् ॥१८॥

टीका—'रागादियेत्यादि—पदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्ताऽऽचार्यश्रीकमलकीर्त्तिर्व्याख्यानं करोति। तथा च-'झायउ' ध्यायतु कश्चिदासन्नभव्यः। कम्? 'णियय-अप्पाण' निजकात्मान स्वकीयमात्मानम्। कथम्भूतम्? 'णिरंजणं' निरञ्जनं कर्माञ्जनरहितम्। कथम्भूत सन् ध्यायत? 'एयग्गमणो' एकाग्रमनाः सन् एकाग्रचित्तः, ऐकाग्र्यं साम्यं स्वास्थ्य शुद्धोपयोग एकार्थवाचका, तस्मिन् मनश्चित्तं एकाग्रचित्त इत्युच्यते। किं कृत्वा ध्यायतु? मुक्त्वा। कान् किमादिकान्? 'रागादिया' रागादीन् राग आदिर्येषां ते रागादयस्तान् राग-द्वेष-मोहादीन्। पुनश्च कथम्भूतान्? 'विभावा' विभावान्, विरुद्धा भावा विभावास्तान् विभावान् विभावरूपान्। पुनश्च किंविशिष्टान्?

आगें ध्यान करणेकी विधि कहै हैं—

भा० व०—एकाग्र मनकरि निज आत्माकू ध्यायहू। कैसा है, निरजन है, कर्म-कलकरहित है। अर रागादिक जे विभाव भाव बाह्य अभ्यतर तिनिकू छोडि करि आत्मध्यान करहू ॥१८॥

अब भगवान् देवसेन बतलाते है कि कैसे आत्माका ध्यान करना चाहिए—

अन्वयार्थ—(रागादिया विभावा) रागादि बिभावोको, तथा (वहिरतर-उहवियप्प) बाहिरी और भीतरी दोनो प्रकारके विकल्पोको (मोत्तूण) छोडकर और (एयग्गमणो) एकाग्र मन होकर (णिरजण) कर्मरूप अजनसे रहित शुद्ध (णियय-अप्पाण) अपने आत्माका (झायउ) ध्यान करना चाहिए।

टीकार्थ—'रागादिया विभावा'इत्यादि गाथाका टीकाकार आचार्यश्रीकमलकीर्त्ति अर्थ—व्याख्यान करते हैं—कोई आसन्नभव्यजीव 'झायउ णियय-अप्पाण' अपने स्वकीय आत्माका ध्यान करे।

प्रश्न—कैसे आत्माका ध्यान करे?

उत्तर—'णिरजण' अर्थात् कर्मरूप अंजनसे रहित निरजन शुद्ध आत्माका ध्यान करे।

प्रश्न—कैसा होकर ध्यान करे?

उत्तर—'एयग्गमणो' अर्थात् एकाग्रमन होकर ध्यान करे। ऐकाग्र्य, साम्य, स्वास्थ्य और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। उस प्रकारके साम्यभावमें स्थित चित्तको एकाग्रचित्त कहते हैं।

प्रश्न—क्या करके आत्माका ध्यान करे?

उत्तर—'रागादिया विभावा वहिरतर-उहयवियप्प मोत्तूण' राग है आदिमें जिनके ऐसे राग द्वेष और मोहादिको—जो आत्मस्वरूपसे विरुद्ध विभाव परिणाम हैं—उनको छोडकर, तथा

'बहिरतरा' बाह्याभ्यन्तरगतान् चित्तगतवचनात्मकान् सामस्त्येन परभावान् 'मोत्तूण' त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानं ध्यायतु स्मरतु चिन्तयतु 'ध्यै चिन्तायां' इत्यर्थः। इति मत्वा तज्ज्ञैर्भव्यजनैर्वस्तुतो निरञ्जनभावैर्भवितव्यमिति भावार्थः ॥१८॥

अथ भो भगवन्, निरञ्जनस्य लक्षणं कीदृगिति भगवानाह—

मूलगाथा—जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरण चिय णिरजणो सो अह भणिओ ॥१९॥

सस्कृतच्छाया—यस्य न क्रोधो मानो माया लोभश्च शल्य-लेश्या।
जाति-जरा-मरणानि च निरञ्जन. सोऽह भणित ॥१९॥

टीका—'सो अह भणिओ' इत्यादि-वृत्तिकारो मुनिर्विवृणोति-तथा च-स एवाह भणित। स एव क ? 'णिरजणो' कर्माञ्जनरहितत्वात् निरञ्जन। स एव निरञ्जन'-'जस्स ण कोहो' यस्य

आगै निरजनका लक्षण कहै है—

भा० व०—सो मै हूँ सो कह्या सो कैसा है निरजन, जाकै क्रोध नाही, मान नाही, माया नाही, लोभ नाही, शल्य नाही, माया मिथ्या निदान नाही, अर लेश्या कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल लेश्यानि करि रहित ऐसा ॥१९॥

वचनात्मक वाहिरी विकल्पोको एव मनोगत विचारात्मक आन्तरिक विकल्पोको सर्वप्रकार छोड-कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करो, वार-वार स्मरण और चिन्तवन करो।

'ध्यै' यह सस्कृतभापाकी धातु चिन्तन करनेके अर्थमे प्रयुक्त होती है। ऐसा समझकर आत्मज्ञ भव्यजनोको वस्तुत निरजनभाववाला होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१८॥

अव शिष्य पूछता है—हे भगवन्, निरजनका लक्षण कैसा है ? ऐसा पूछनेपर भगवान् देव-सेन कहते है—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके (ण कोहो) न क्रोध है, (ण माणो) न मान है, (ण माया) न माया हे, (ण लोहो) न लोभ है, (ण सल्ल) न शल्य है, (ण लेस्साओ) न कोई लेश्या है, (ण जाइ-जरा-मरण चिय) और न जन्म, जरा और मरण भी है, (सो) वही (णिरजणो) निरजन (अह) मै (भणिओ) कहा गया हूँ।

टीकार्थ—'सो अह भणिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-विवरण करते है—वही मैं कहा गया हूँ।

प्रश्न—वही कौन ?

उत्तर—निरंजन मैं। कर्मरूप अञ्जनसे रहित होनेके कारण मैं निरजन हूँ।

वही निरजन है—'जस्स ण कोहो' अर्थात् जिसके क्रोव नही है।

क्रोधो नास्ति । अन्ये के के न सन्ति यस्य ? 'माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ' मानो मान-कषाय., माया मायाकषायः, लोभो लोभकषायश्च ? शल्यानि त्रीणि माया-मिथ्या-निदानरूपाणि । लेश्या. षट्-कृष्ण-नील-कापोताख्यास्तिस्रोऽशुभा, पीतपद्म-शुक्लरूपास्तिस्रो लेश्या. शुभा । 'जाइ-जरा-मरणं चिय' जातिरुत्पत्ति, जरा वृद्धावस्था, मरणं दशप्राणाभावात् । जातिश्च जरा च मरण च जातिजरामरणान्यपि यस्यैते दोषा न स्यु न भवेयु', स एव निरञ्जनोऽहं भवामीति मत्वा मोक्षेच्छुभि. सुभव्यै सर्वथाऽसौ निरञ्जनभावो भावनीयो भवतीति भावार्थः ॥१९॥

अथ तस्य निरञ्जनस्य किं किं नास्तीति सूत्रकर्ता भगवानाह—

मूलगाथा—णत्थि कलासठाण मग्गण गुणठाण जीवठाणाइ ।
ण य लद्धिबंधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥२०॥

संस्कृतच्छाया—न सन्ति कलासंस्थान मार्गणा-गुणस्थान-जीवस्थानानि ।
न च लब्धि-बन्धस्थानान्युदयस्थानादिकानि कानिचित् ॥२०॥

बहुरि निरजनका ही लक्षण कहै हैं—

भा० व०—शुद्ध निरजन आत्माविषैं कोई कला नाही है, अर कोई सस्थान नाही, अर कोई मार्गणा नाही । गति इद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान सयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यक्त्व सज्ञा आहार इत्यादिक मार्गणा नाही हैं । अर गुणस्थान नाही । मिथ्यात्व १ सासादन २ मिश्र ३ अवि-रत ४ देशविरत ५ प्रमत्त ६ अप्रमत्त ७ अपूर्वकरण ८ अनिवृत्तिकरण ९ सूक्ष्मसापराय १० उप-शातमोह ११ क्षीणमोह १२ सयोगी १३ अयोगी इत्यादि गुणस्थान नाही, जीवस्थान नाही । अर लब्धिस्थान कोऊ ही नाही है । अर कोई उदयस्थान हू नाही है ॥२०॥

प्रश्न—उसके अन्य कौन कौन विभाव नही हैं ?

उत्तर—'माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ' अर्थात् जिसके न मान कषाय है, न माया कषाय है, न लोभकषाय है, और न माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीनो शल्य है, तथा जिसके कृष्ण, नील, कापोतनामकी ये तीन अशुभ लेश्याए, एव पीत, पद्म और शुक्लरूप तीन शुभ लेश्याए, ये छहो लेश्याएं नही हैं । तथा 'जाइजरा-मरण चिय' अर्थात् जाति जन्म या उत्पत्ति, जरा-वृद्धावस्था और दश प्राणोके अभावरूप मरण भी नही है । इस प्रकारसे जिसके जन्म, जरा और मरणरूप कोई दोष नही है ।

उक्त प्रकारका निरजन मै हूँ, ऐसा मानकर मोक्षके इच्छुक उत्तम भव्यजनोको सर्वप्रकार-से वह निरजनभाव भावना करनेके योग्य है । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१९॥

पुन शिष्यने पूछा—उस निरजन आत्माके और क्या क्या नही होते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् सूत्रकार देवसेन कहते है—

अन्वयार्थ—उस निरजन आत्माके (णत्थि कला) कोई कला नही है, (सठाण) कोई सस्थान नही है, (मग्गण-गुणठाण) कोई मार्गणास्थान नही है, कोई गुणस्थान नही है, (जीवट्ठाणाइ) और न कोई जीवस्थान है (ण य लद्धि बघट्ठाणा) न कोई लब्धिस्थान है, न कोई बन्धस्थान हैं, (णोदय-ठाणाइया केई) और न कोई उदयस्थान आदि हैं ।

टीका— णत्थि कलासठाणं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिना विशेषव्याख्यान क्रियते। तद्यथा—तस्य जीवस्येत्यध्याहारः क्रियते। न सन्ति न विद्यन्ते। का ? कलाः कर्मक्षयोपशमजनिता व्यावहारिका द्विसप्ततिसंख्याका कला । अन्यान्यपि न सन्ति। तानि कानि कानि ? षट् सस्थानम्—समचतुरस्राख्यं प्रथम सस्थानम् १, न्यग्रोधसंस्थान द्वितीय २, स्वातिसस्थान तृतीय ३, कुब्जकसंस्थानं चतुर्थं ४, वल्मीकसंस्थान पञ्चम ५, हुण्डकनामसंस्थानं षष्ठम् ६। एवविधानि षट्संस्थानानि तस्य न सन्ति। पुनश्च का न सन्ति ? 'मग्गण' मार्गणाश्चतुर्दश। तथाहि—

गइ इंदिए च काए जोऐ बेए कसायणाणे य।
संजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।।२१।।

गतयश्चतस्रो भवन्ति–नरकगति १, तिर्यंग्गति २, मनुष्यगति ३, देवगतिरिति ४। नरकगतौ तु सप्ताधोऽधोभागेन भूमयो भवन्ति–रत्नप्रभा १, शर्कराप्रभा २, वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभा ४, धूमप्रभा ५, तमःप्रभा ६, महातम प्रभा ७ इति सप्तसु भूमिमध्ये एकोनपञ्चाशत् पटलानि सन्ति। कथम् ? प्रथमायां भूमौ त्रयोदश पटलानि १३। द्वितीयाया चैकादश ११, तृतीयाया नव पटलानि ९, चतुर्थ्यां सप्त ७, पञ्चम्या पञ्च पटलानि ५, षष्ठ्या भूमौ त्रीणि पटलानि ३, सप्तमभूमौ

टीकार्थ—'णत्थि कला सठाण' इत्यादि गाथाका भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति विशेष व्याख्यान करते है—यहा पर 'उस निरजन जीवके' इस पदका अध्याहार करना चाहिए। उस निरजन आत्माके ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली व्यावहारिक गीत-सगीत आदि वहत्तर कलाओमेसे कोई कला नही है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक वस्तुए नही है।

प्रश्न—वे अन्य कौन कौन वस्तुए नही है ?

उत्तर—वे वस्तुए इस प्रकार है—सस्थान (शरीरका आकार) छह प्रकारका होता है—१ समचतुरस्रसस्थान, २ न्यग्रोधपरिमडलसस्थान, ३ स्वातिसस्थान, ४ कुब्जकसस्थान, ५ वल्मीकसस्थान और ६ हुण्डकसस्थान। इन छह प्रकारके सस्थानोमेसे उस निरजन आत्माके कोई भी सस्थान नही है।

प्रश्न—और उस निरजन आत्माके क्या नही है ?

उत्तर—चौदह मार्गणास्थान भी नही हैं। वे चौदह मार्गणास्थान इस प्रकार है—

१ गतिमार्गणा, २ इन्द्रियमार्गणा, ३ कायमार्गणा, ४ योगमार्गणा, ५ वेदमार्गणा, ६ कषायमार्गणा, ७ ज्ञानमार्गणा, ८ सयममार्गणा, ९ दर्शनमार्गणा, १० लेश्यामार्गणा, ११ भव्यमार्गणा, १२ सम्यक्त्वमार्गणा, १३ सज्ञिमार्गणा और १४ आहार मार्गणा ।।२१।।

गतिया चार होती है—१ नरकगति, २ तिर्यंग्गति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। नरकगतिमे नीचे नीचे अधोभागमे सात भूमिया है— रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पङ्कप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तम प्रभा और ७ महातम प्रभा। इन सातो भूमियोके मध्य भागमे उनचास (४९) पटल हैं। वे इस प्रकार हैं—पहिली भूमिमें तेरह पटल हैं १३। दूसरी भूमिमे ग्यारह पटल हैं ११। तीसरी भूमिमे नौ पटल हैं ९। चौथी भूमिमे सात पटल हैं ७। पाचवी भूमिमे पाच पटल

पटलमेकम् १। तासु सप्तसु भूमीसु बिलानि चतुरशीतिर्लक्षाः ८४००००० । कथं भवन्तीति क्रमेण कथ्यते—प्रथमभूमौ बिलानि त्रिंशल्लक्षाः ३०००००० । एतेषां मध्ये इन्द्रकास्त्रयोदश १३ । श्रेणिबद्धानि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि ४४२० । शेषाणि मिश्ररूपाणि २९९५५६७ । कापोतलेश्याया जघन्यभागो जघन्यायुर्वर्षदशसहस्राणि १०००० । उत्कृष्टायुरेकसागरोपमम् । जघन्योत्सेधो नारकाणां त्रयो हस्ता ३ । उत्कृष्टतः सप्तधनूंषि ७ हस्तास्त्रयः ३ अङ्गुलानि षट् ६ । तेषामवधिश्चत्वारः क्रोशाः ४ । इति प्रथमभूमिविशेषः समाप्तः ।

अथ द्वितीयशर्कराप्रभायां बिलानि पञ्चविंशतिर्लक्षाः २५००००० । इन्द्रका एकादश ११, श्रेणिबद्धानि षड्विंशतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि २६८४ । उद्धरितानि मिश्राणि २४९७३०५ । मध्यमा कापोतलेश्या । जघन्यायुः सागरोपमप्रमाणं त्रिसागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टम् । जघन्योत्सेधः पूर्वोक्त स एव । तस्योत्कृष्ट उत्सेधो द्विगुणः । तेषामवधिः सार्धक्रोशत्रयम् । इत्येकरज्जुमध्ये द्वे भूमि रत. २ ।

अथ द्वितीयरज्जूमध्ये तृतीयभूमिरितरयां वालुकाप्रभाख्यायां भूमौ बिलानि पञ्चदश लक्षाः १५००००० । एतेषां मध्ये नवेन्द्रका ९ । श्रेणीबद्धानि चतुर्दश शतानि षट्सप्तत्यधिकानि १४७६ । इतराणि पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसंज्ञानि १४९८५१५ । उत्कृष्टा कापोतलेश्या, जघन्यांशा नीललेश्या ।

हैं ५ । छठी भूमिमे तीन पटल है ३ । और सातवी भूमिमे एक पटल है १ । उन सातो ही भूमियोंमे चौरासी लाख बिल है ८४००००० ।

वे बिल (नारकियोंके रहनेके स्थान) किस प्रकारसे किस भूमिमे कितने है ? यह क्रमसे कहते है—प्रथम भूमिमे तीस लाख बिल है ३०००००० । इनके मध्यमे इन्द्रक नामके तेरह बिल हैं । श्रेणीबद्ध (दिशा-गत) बिल बीस अधिक चवालीस सौ ४४२० है । शेष मिश्ररूप बिल २९९५५६७ है । पहिली नरक भूमिमे कापोत लेश्याका जघन्य भाग है । जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है १०००० । उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है । यहाके नारकियोके शरीरकी जघन्य ऊंचाई तीन हाथ है और उत्कृष्ट ऊंचाई सात धनुष ७, तीन हाथ ३, छह अङ्गुल ६ है । उनका अवधिज्ञान चार कोश प्रमाण है ४ । इस प्रकार प्रथम भूमिका विशेष वर्णन किया ।

अब दूसरी भूमिका वर्णन करते है—दूसरी शर्कराभूमिमे बिल पच्चीस लाख है २५००००० । उनमे इन्द्रक बिल ग्यारह हैं ११ । श्रेणिबद्ध बिल चौरासी अधिक छब्बीस सौ २६८४ है । शेष मिश्ररूप बिल २४९७३०५ है । दूसरी भूमिके नारकियोके मध्यम कापोतलेश्या है । उनकी जघन्य आयु एक सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु तीन सागरोपमप्रमाण है । यहाके नारकियोंके शरीरकी जघन्य ऊंचाई पूर्वोक्त ७ धनुष, ३ हाथ और छह अङ्गुल है । तथा उत्कृष्ट ऊंचाई जघन्य से दुगुनी अर्थात् १५ धनुष, २ हाथ १२ अङ्गुल है । यहाके नारकियोका अवधिज्ञान साढे तीन कोश प्रमाण है । पहिली और दूसरी ये दो भूमिया एक राजुके भीतर है ।

अब दूसरी राजुके मध्यमे जो तीसरी वालुकाप्रभानामकी भूमि है, उसमे पन्द्रह लाख बिल है १५००००० । इनके मध्यमे नौ इन्द्रक बिल है ९ । श्रणीबद्ध बिल छिहत्तर अधिक चौदह सौ १४७६ है । शेष पुष्पप्रकीर्णक नामवाले बिल चौदह लाख अठ्यानवे हजार पाच सौ पन्द्रह १४९८५१५ है । इस तीसरी नरकभूमिमे उत्कृष्ट कापोत लेश्या और नील लेश्याका जघन्य अंश

जघन्यायुस्त्रिसागरोपमप्रमाणम् ३। उत्कृष्टं सप्तसागरोपमप्रमाणम् ७। जघन्योत्सेध पञ्चदश धनूंषि १५ द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि १२। उत्कृष्ट उत्सेधस्तद्द्विगुणः धनूंषि ३१, हस्त. १। क्रोशास्त्रयोऽवधिर्भवेत्।

अथ तृतीयरज्जूमध्ये पङ्कप्रभाया चतुर्थभूमौ बिलानि दशलक्षा १०००००० । एतेषां मध्ये इन्द्रकसंज्ञानि सप्त। श्रेणीबद्धानि सप्त शतानि ७००। अन्यानि पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसज्ञानि ९९९२९३। नीललेश्या मध्यमाशा। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेघो धनूंषि ६२ हस्त २। जघन्यायुः पूर्वोक्तम्। उत्कृष्ट दशसागरोपमम् १०। सार्धक्रोशद्वयमवधिर्भवेत्। इति चतुर्थनरकभूमि ४।

अथ चतुर्थरज्जूमध्ये धूमप्रभायां पञ्चमभूमौ बिलानि तिस्रो लक्षा ३००००० । एतेषां मध्ये पञ्चेन्द्रकाः ५। श्रेणीबद्धानि षष्टयधिके द्वे शते २६०। उद्धरितानि मिश्ररूपाणि २९९७३५। नीललेश्योत्कृष्टाशा कृष्णलेश्या जघन्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेघो धनूंषि १२५। जघन्यमायुः पूर्वोक्तमेव। उत्कृष्टमायुः (सप्तदश सागरोपमम् १७। क्रोशद्वयमवधिर्भवेत्। इति पञ्चमनरकभूमि ५)

(अथ पञ्चमरज्जूमध्ये तमःप्रभाया षष्ठभूमौ बिलानि पञ्चोनैकलक्षा ९९९९५। एतेषां मध्ये त्रय इन्द्रकाः ३। श्रेणिबद्धानि षष्ठी ६०। उद्धरितानि मिश्ररूपाणि ९९९३ । मध्यमा

है। यहाके नारकियोकी जघन्य आयु तीन सागरोपम प्रमाण है ३। तथा उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम प्रमाण है ७। यहाके नारकियोके शरीरकी जघन्य ऊचाई पन्द्रह धनुष १५ दो हाथ २, और बारह अगुल १२ प्रमाण है। उत्कृष्ट ऊचाई इससे दुगुनी अर्थात् ३१ धनुष और १ हाथ प्रमाण है। यहाके नारकियोका अवधिज्ञान तीन कोश प्रमाण है।

अब तीसरी राजुके मध्यमे पकप्रभानामकी जो चौथी नरकभूमि है उसमे दश लाख बिल हैं १०००००० । इनके मध्यमे सात इन्द्रक बिल है। श्रेणीबद्ध बिल सातसौ हैं ७००। अन्य पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसज्ञावाले बिल नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवे ९९९२९३ है। यहाके नारकियोके नीललेश्याका मध्यम अश है। शरीरकी जघन्य ऊचाई वही पूर्वोक्त ३१ धनुष १ हाथ प्रमाण है तथा उत्कृष्ट ऊचाई ६२ धनुष और २ हाथ प्रमाण है। जघन्य आयु पूर्वोक्त सात सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम प्रमाण है १०। यहाके नारकियोका अवधिज्ञान ढाई कोश प्रमाण है। इस प्रकार चौथी नरक भूमिका वर्णन किया ४।

अव चौथी राजुके मध्यमे जो धूमप्रभा नामकी जो पाचवी नरकभूमि है उसमे बिल तीन लाख हैं ३००००० । इनके मध्यमे पाच इन्द्रक विल है। श्रेणीवद्ध बिल साठ अधिक दो सौ २६० है। शेप मिश्ररूप विल दो लाख निन्यानवे हजार सात सौ पैंतीस २९९७३५ हैं। यहाके नारकियोके नील लेश्याका उत्कृष्ट अश और कृष्णलेश्याका जघन्य अश है। शरीरकी जघन्य ऊचाई वही पूर्वोक्त ६२ धनुप २ हाथ प्रमाण है और उत्कृष्ट ऊचाई एक सौ पच्चीस १२५ धनुष प्रमाण है। जघन्य आयु पूर्वोक्त दश सागरोपमप्रमाण है और उत्कृष्ट आयु सत्रह १७ सागरोपमप्रमाण है। यहाके नारकियोका अवधिज्ञान दो कोश प्रमाण है। इस प्रकार पाचवी नरक भूमिका वर्णन किया ६।

अव पाचवी राजुके मध्यमे जो तम प्रभा नामकी छठी भूमि है उसमे पाच कम एक लाख ९९९९५ विल हैं। इनके मध्यमे तीन इन्द्रक विल हैं। श्रेणीवद्ध विल साठ ६० हैं। शेष मिश्ररूप

कृष्णलेश्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेधः धनूषि २५०। जघन्यमायु प्रमाण पूर्वोक्तमेव। उत्कृष्टमायु द्वाविंशतिसागरोपमम् २२। सार्धक्रोशमवधिर्भवेत् इति षष्ठनरक-भूमिः ६)

(अथ षष्ठरज्जूमध्ये महातम प्रभाया सप्तमभूमौ विलानि पच ५। एतेषां मध्ये इन्द्रकः १। श्रेणीबद्धानि ४। उत्कृष्टा कृष्णलेश्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्त.। उत्कृष्टोत्सेधः धनूषि ५००। जघन्यमायु प्रमाण) पूर्वोक्तमेव। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टमायुः। तेषामवधिरेकः क्रोशः। इति सप्तमं नरकवर्णनं समाप्तम्।

अथ सप्तमरज्जूमध्ये निगोदास्तिष्ठन्ति वातवलयत्रयपर्यन्तम्। तेषां नारकाणां पञ्चप्रकाराणि क्षेत्रोद्भव-शरीर-वचनोद्भव-मानसिकासुरोदीरितलक्षणानि दुःखानि भवन्ति। तीव्रपाप-कर्मोदयाच्च चतुर्थपर्यन्त–सम्बन्धिना नारकाणामुष्णवेदना स्यात्। पञ्चमनरकद्विभागयोरुष्णवेदना, तृतीयभागे शीतवेदना केवला। षष्ठ-सप्तमनरकयोरत्यन्तशीतवेदना जायतेतराम्।

पञ्चेन्द्रियासञ्ज्ञिनो जीवा मृता सन्त. प्रथमनरके यान्ति। द्वितीयनरके षारटाः (सरीसृपा) यान्ति। पक्षिणस्तृतीये। सर्पोरगाश्चतुर्थे गच्छन्ति। सिंहाः पञ्चम्यां यान्ति। षष्ठ्या भूमौ पापाः

बिल निन्यानवे हजार नौ सौ पैंतीस ९९९३५ हैं। यहाके नारकियोके मध्यम कृष्ण लेश्या है। शरीरकी जघन्य ऊचाई वही पूर्वोक्त १२५ धनुष प्रमाण है और उत्कृष्ट ऊचाई २५० धनुष है। जघन्य आयुका प्रमाण पूर्वोक्त सत्रह सागरोपम १७ है। उत्कृष्ट आयु बाईस सागरोपमप्रमाण है २२। यहाके नारकियोका अवधिज्ञान डेढ कोश प्रमाण है। इस प्रकार छठी नरक भूमिका वर्णन किया ६।

अब छठी राजुके मध्यमे महातम प्रभा नामकी जो सातवी नरकभूमि है उसमे केवल पाच बिल है ५। इनमेसे एक इन्द्रक बिल है और चार श्रेणीबद्ध बिल है। यहाके नारकियोके उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या होती है। शरीरकी जघन्य ऊचाई वही पूर्वोक्त २५० धनुष है और उत्कृष्ट ऊचाई ५०० धनुष प्रमाण है। जघन्य आयु-प्रमाण पूर्वोक्त २२ सागरोपम है और उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपमप्रमाण है। वहाके नारकियोका अवधिज्ञान एक कोश प्रमाण है। इस प्रकार सातवी नरकभूमिका वर्णन समाप्त हुआ।

इसके नीचे सातवी राजुके मध्यमे तीनो वातवलयो पर्यन्त सर्वत्र एकेन्द्रिय निगोदिया जीव रहते हैं।

ऊपर कही गई नरकभूमियोमे रहनेवाले नारकियोके पाच प्रकारके दु ख होते है—१ क्षेत्र-जनित, २ शारीरिक, ३ वचन-जनित, ४ मानसिक और ५ असुरकुमारोदित। तीव्र पापकर्मके उदयसे चौथी पृथ्वी तकके नारकियोके उष्णवेदना होती है। पाचवी नरकभूमिके आदिके दो भागोमे उष्णवेदना और तीसरे भागमे केवल शीतवेदना होती है। छठी और सातवी नरकभूमिमे अत्यन्त शीत वेदना होती है।

पचेन्द्रिय-असज्ञी जीव मरण करते हुए प्रथम नरकमे जाते है। शरट (सरीसृप) दूसरे नरक-मे जाते है। पक्षी तीसरे नरकमे जाते है। फणवाले साप-उरग चौथे नरकमे जाते है। सिंह पाचवी

स्त्रियो व्यभिचारिण्यो गच्छन्ति। सप्तम्यां भूमौ पापकर्मोदयतो मनुष्याः मत्स्याश्च मृताः यान्ति।

सप्तमनरकान्निःसृता मनुष्या न भवन्ति, किन्तु तिर्यञ्चः सिंहादयो जायन्ते। षष्ठनरकान्निर्गता केचन मनुष्या भवन्ति, संयम न प्राप्नुवन्ति। पञ्चमान्निर्गता मनुष्या सयमिनश्च भवन्ति, केवलज्ञानं न प्राप्नुवन्ति। चतुर्थनरकादागता मनुष्याः सयमिनो मोक्षगामिनो भवन्ति, तीर्थंकरा न भवन्ति। तृतीय-द्वितीय-प्रथमनरकेभ्यो निर्गता मनुष्या. सयमिनस्तीर्थंकराश्च भवन्ति।

अथ सप्ताधोभूमीषु नारकाणा नरकगतीषु सम्यक्त्वोत्पत्तिविशेषमाह। तथाहि—सर्वासु पृथ्वीषु नारकाणा पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिक सम्यक्त्वद्वयमुत्पद्यते। प्रथमाया पृथिव्या पर्याप्तकानां क्षायिक चास्ति। तत्र सर्वेषां नारकाणा नपुंसकलिङ्गमस्ति केवलम्, स्त्री-पुल्लिगद्वयं नास्ति। सस्थानं हुण्डकमेव। ते सर्वे नारकाः पञ्चेन्द्रिया सज्ञिनश्च भवन्ति।

तीव्रपापकर्मोदयादुत्कृष्टेन कस्मिन् कस्मिन्नरके कति-कतिवारान् यान्ति दुष्टजीवा इत्याह। तद्यथा—सप्तम्या च नियमाद् द्विवार यान्ति सततमुत्कृष्टो जघन्येनैकवारम् १। तथा षष्ठ्या त्रीन् वारान् यान्ति ३। पञ्चम्या चतुरो वारान् ४। चतुर्थ्यां पञ्चवारान् ५। तृतीयायां षट् वारान् ६। द्वितीयाया सप्तवारान् ७। प्रथमायामष्टौ वारान् यान्ति ८। तथा चोक्तं त्रैलोक्यदीपके—

नरकभूमिमे जाते हैं। पापिनी व्यभिचारिणी स्त्रिया छठी नरकभूमिमे जाती है। सातवी नरकभूमिमे पापकर्मके उदयसे मनुष्य और मत्स्य मरकर उत्पन्न होते है।

सातवें नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य नही होते हैं, किन्तु सिंहादिक क्रूर तिर्यच होते है। छठे नरकसे निकले हुए कितने ही जीव मनुष्य तो होते है, किन्तु सयमको धारण नही कर पाते है। पाचवें नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य और सयमके धारक तो होते है, किन्तु केवलज्ञानको प्राप्त नही करते है। चौथे नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य, सयमी और मोक्षगामी तो होते हैं, किन्तु तीर्थंकर नही होते हैं। तीसरे, दूसरे और पहिले नरकसे निकलें हुए जीव मनुष्य, सयमी और तीर्थंकर होते है।

अव सातो अधोभूमियोवाली नरकगतियोमे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके विशेषको कहते है। यथा—सभी पृथिवियोमे पर्याप्तक नारकोके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व उत्पन्न होते है। पहिली पृथिवीमे पर्याप्तक नारकोके क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है। उन सभी नारकोके केवल एक नपुसक लिंग ही होता है, स्त्रीलिंग और पुल्लिग ये दो लिंग नही होते। सभी नारकोके एक हुण्डक सस्थान ही होता है। वे सभी नारकी पचेन्द्रिय और सज्ञी होते है।

अव तीव्र पापकर्मके उदयसे किस-किस नरकमे दुष्ट जीव अधिकसे अधिक कितने-कितने वार जाते है, यह वतलाते है यथा—सातवी नरकभूमिमे नियमसे लगातार उत्कृष्टत दो वार जाते हैं और जघन्यत एक वार जाते है। छठी नरकभूमिमे तीन वार जाते हैं ३। पाचवी नरकभूमिमे चार वार जाते है ४। चौथी नरकभूमिमे पाच वार जाते हैं ५। तीसरी नरकभूमिमे छह वार जाते हैं ६। दूसरी नरकभूमिमे सात वार जाते हैं ७। और पहिली नरकभूमिमे आठ वार जाते हैं ८। जैसा कि त्रैलोक्यदीपकमे कहा है—

यातो यः प्रथमां भूमिं सोऽष्ट कृत्वा तथा व्रजेत् ।
एकैकं हीयमानेन शेषभूमिं प्रयान्ति च ॥२२॥

अथ तिर्यग्गतिः कथ्यते । तथाहि–तिरश्चा भेदमाह—स्थावर-त्रसभेदाद् द्विविधास्तिर्यञ्च । तन्मध्ये स्थावरा पञ्चप्रकारा –पृथ्वीकायाप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पतिकाया. सूक्ष्म-बादरै-केन्द्रिया । त्रसास्तु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय-संज्ञ्यसज्ञि-पर्याप्तापर्याप्ताश्च सर्वे तिर्यञ्च एव । पञ्चस्थावराणां संस्थानानि मसूरिका-कुशाग्रस्थविन्दु-सूचि-पताकाकाराणि पृथिव्यप्तेजोवातकायिकानां चतुर्णाम् । वनस्पतिकायिकाना चानेकविधं सस्थानम् । तथा त्रसानामपि संस्थानमागमानुसारेण ज्ञातव्यम् । तेषा तिरश्चामायुरुत्कृष्टं पल्यत्रयम्, जघन्यमन्तर्मुहूर्तम् । उत्सेधस्तेषामुत्कृष्ट क्रोशत्रयप्रमाणम् । रज्ज्वेक मध्ये तिर्यग्लोक क्षेत्रमस्ति । स्त्री-पुन्नपुंसक-लिङ्गानि भवन्ति । चतुर्विधार्त्तध्यानेनोत्पद्यन्ते तिर्यञ्चश्चेति तिर्यग्गति ।

अथ मनुष्यगतिरुच्यते । तद्यथा-सार्धद्वीपद्वयमध्ये मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्तक्षेत्रे भवन्ति

जो जीव पहिली भूमिमे जाता है, वह उत्कृष्टरूपसे आठ बार वहा जाता है । पुन एक-एक हीयमान वारसे शेप भूमियोको जाता है ॥२२॥

अव तिर्यंग्गतिका वर्णन करते है । पहिले तिर्यंचोंके भेद कहते हैं—तिर्यंच त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके है । उनमे स्थावर जीव पाच प्रकारके है— पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । ये सभी एकेन्द्रिय स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते है और वादर भी होते हैं । त्रसजीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियके भेदसे चार प्रकारके होते है । पचेन्द्रिय जीव सज्ञी और असज्ञीके भेदसे दो प्रकारके होते है । पुन ये सभी तिर्यंच जीव पर्याप्तक भी होते है और अपर्याप्तक भी होते है । पाच प्रकारके स्थावरोमेसे पृथ्वीकायका सस्थान मसूरके समान होता है, अप्कायका सस्थान कुशाके अग्रभागपर स्थित जल-विन्दुके समान होता है, तैजस्कायका सस्थान सूची (सूई) के समान होता है और वायुकायका सस्थान पताका (ध्वजा) के आकारका होता है । वनस्पतिकायिकजीवोका सस्थान अनेक प्रकारका होता है । तथा त्रस जीवोका सस्थान भी आगमके अनुसार जानना चाहिए ।

भोगभूमिमे पचेन्द्रिय तिर्यंचोकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यप्रमाण होती है और कर्मभूमिके तिर्यंचोकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होती है । उक्त तिर्यचोके शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई तीन कोश प्रमाण होती है । एक राजुके मध्यमे तिर्यग्-लोक क्षत्र है । तिर्यच स्त्री, पुरुष और नपुसक तीनो लिंगवाले होते है । चार प्रकारके आर्त्तध्यानसे मरकर जीव तिर्यंच गतिमे उत्पन्न होते है । इस प्रकार तिर्यग्गतिका वर्णन किया ।

अव मनुष्यगतिका वर्णन करते है । यथा—अढाई द्वीपके मध्य मानुषोत्तर पर्वततकके क्षेत्रमे मनुष्य उत्पन्न होते हैं । वे आर्य, म्लेच्छ, भोगभूमिज और कुभोगभूमिजके भेदसे चार प्रकारके होते हैं । उनमे आर्य मनुष्य स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनो लिंगवाले होते हैं । तथा वे पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त भी होते है । इसी प्रकार म्लेच्छखण्डमे उत्पन्न हुए मनुष्य भी जानना चाहिए ।

मनुष्या । ते आर्य-म्लेच्छ-भोगभूमि-कुभोगभूमिजाश्चतुर्विधा । तत्रार्याः स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गा पर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्ता स्तथैव म्लेच्छखण्डोत्पन्ना मनुष्या । शरीरप्रमाणमुत्कृष्टं धनुषा पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चशतानि । तेषामार्यम्लेच्छखण्डजानामुत्कृष्टमायु. कोटयेकपूर्वप्रमाणम् । जघन्यमायुश्चान्तर्मुहूर्तम् ।

किंच आर्यक्षेत्रजा मनुष्या व्रततपोऽणुव्रत-महाव्रतानि लब्ध्वा कर्मक्षयं कृत्वा केचन मोक्ष च लभन्ते, न तु म्लेच्छखण्डजा व्रततपश्चरणाद्यभावात् । भोगभूमिजाना मनुष्याणामुत्तम-मध्यम-जघन्यापेक्षया कायोत्सेध त्रिद्व्येकक्रोशप्रमाणमनुक्रमेण । आयुश्च त्रिपल्यद्विपल्यैकपल्यप्रमाण भवेत् । लेश्यास्तु द्रव्य-भावरूपाः शुभा. पीतपद्मशुक्लास्तिस्रो भवन्ति । तीव्रकषायाभावादशुभा न भवन्ति । उत्तम-मध्यम-जघन्यपात्रदानोपार्जितपुण्येन ते सभवन्ति । मृताः सन्तः सर्वे स्त्री-पुरुषा देवगति यान्ति, आर्यभावविशेषादितरा गति न गच्छन्ति । स्त्री-पुलिङ्गा. भवन्ति, नपुसका नहि भवन्ति । तेषामाहारो बदर विभीतकामलकप्रमाण वाञ्छितममृतरूप त्रिदिन-द्विदिनैकदिनान्तरेण भुञ्जन्ति । दशप्रकारा कल्पवृक्षा.—मद्याङ्गातोद्याङ्ग-विभूषणाङ्ग-(भाजनाङ्ग) दीपकाङ्ग-ज्योतिरङ्ग-गृहाङ्ग-भोजनाङ्ग-वस्त्राङ्गरूपा । एते वाञ्छित प्रयच्छन्ति । युगलरूपोत्पत्तिस्तेषां छिक्का-जृम्भिकाभ्यां युगपन्म्रियन्ते ते भोगभूमिजा· । आयुरन्ते मरणं भवति, अकाल-मृत्यभावात्सम्पूर्णपुण्योदयतश्च ।

कर्मभूमिज मनुष्योके शरीरका उत्कृष्ट प्रमाण पच्चीस अधिक पाच सौ (५२५) धनुष है । इन आर्य और म्लेच्छ खण्डज मनुष्योकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी वर्ष प्रमाण होती है । जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त है ।

आर्य क्षेत्रमे उत्पन्न हुए मनुष्य व्रत, तप, अणुव्रत और महाव्रतोको धारण कर कितने ही कर्मोका क्षय करके मोक्षको प्राप्त करते है । किन्तु म्लेच्छखण्डज मनुष्य व्रत, तपश्चरणादिके अभावसे मोक्ष नही जाते हैं । भोगभूमिज मनुष्योके शरीरकी ऊचाई उत्तमभोगभूमिमे तीन कोश, मध्यम भोगभूमिमे दो कोश और जघन्य भोगभूमिकी अपेक्षा एक कोश प्रमाण होती है । आयु भी तीनो भोगभूमियोमे अनुक्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्यप्रमाण होती है । भोगभूमिज जीवोके द्रव्य और भावरूप पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याए अनुक्रमसे होती है । तीव्र कपायका अभाव होनेसे उनके अशुभ लेश्याए नही होती हैं । उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रोको दान देनेसे उपार्जित पुण्यसे वे क्रमश उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमिमे उत्पन्न होते है । भोगभूमिज सभी स्त्री-पुरुप मर करके देवगतिको जाते है । आर्यभावकी विशेषतासे वे अन्य गतिमे नही उत्पन्न होते हैं । भोगभूमिज जीव स्त्रीलिंगी और पुंल्लिगी ही होते है, नपुसकलिंगी नही होते हैं। उनका आहार क्रमश वदर (वेर–)प्रमाण, विभीतक–(वहेडा–) प्रमाण और आमलक–(आवला–) प्रमाण वाछित अमृतरूप होता है और वे क्रमसे तीन दिन, दो दिन तथा एक दिनके अन्तरसे आहार करते हैं । वहा पर दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं—मद्याग, आतोद्याग, विभूषणाग, भाजनाग, दीपकाग, ज्योतिरग, गृहाग, भोजनाग और वस्त्राग । ये दशो प्रकारके कल्पवृक्ष अपने नामके अनुरूप मनोवाछित वस्तुओंको देते हैं । भोगभूमिया जीव स्त्री-पुरुपके युगलरूपसे उत्पन्न होते है और वे छींक और जभाई लेकर एक साथ मरणको प्राप्त होते है । आयुके अन्तमे ही उनका मरण होता है, क्योकि उनके अकालमृत्युका अभाव है और सम्पूर्ण जीवन भर पुण्यका उदय रहता है । उत्तम भोगभूमिके जीव इक्कीस दिनोमे, मध्यम भोगभूमिके जीव पैंतीस दिनोमें और जघन्य भोग-

एकविंशति-पञ्चत्रिंशदेकोनपञ्चाशद्दिनै सम्पूर्णकाया भवन्ति। षोडशवार्षिकमनुष्ययुवानश्चैकरूपा सन्ति। मनुष्यगतिरिति।

अथ देवगतिरिति ऊर्ध्वम्। भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिना चतुर्णिकायाना देवानां यथाक्रमेण भेदानाह। तथा च—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा इति दशप्रकारा भवन्ति। तेषामुत्कृष्टायुः सागरोपममेक जघन्यं च वर्षाणा दशसहस्राणि। उत्कृष्ट उत्सेधः पञ्चविंशतिर्धनूषि, जघन्यश्च धनुषा दश। षोडशसहस्रयोजनप्रमाणखरभूमिमध्यभवनेषु निवसन्ति।

तथैव किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूतपिशाचा इत्यष्टप्रकारा व्यन्तरास्तत्रैव खर-पङ्कबहुलपृथ्वीमध्ये निवासिनश्च। उत्कृष्ट शरीरोत्सेधो दश धनूंषि। तेषा जघन्यमायु वर्षाणि दश सहस्राणि। उत्कृष्ट पल्यमेकं किञ्चिदूनम्। तेषां व्यन्तराणामाहार सार्धपञ्चभिर्वासरै, तथाविधैर्मुहूर्तैरुच्छ्वासो भवति ५। इति द्वितीयनिकाया व्यन्तराः।

अथ तृतीयनिकायः—सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णकतारकाख्याः पञ्चप्रकारा ज्योतिष्काः। तेषां मध्ये तारकाः कथ्यन्ते—समधरातलादूर्ध्वं गत्वा शतान्यष्टौ दशोनानि योजनानि तारकाणा विमानानि चलरूपाणि सन्ति। ततो दशयोजनानि गत्वा सूर्याणा विमानानि। तत ऊर्ध्वमशीतिर्यो-

---

भूमिके जीव उनंचास दिनोमे सम्पूर्ण शरीरके धारक हो जाते हैं। वहाके मनुष्य सोलह वर्ष जैसे जवान और एकरूप होते है। इस प्रकार मनुष्यगतिका वर्णन किया।

अब इससे आगे देवगतिका वर्णन करते है। देवोंके चार निकाय है—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी। अब इनके यथाक्रमसे भेद कहते है। भवनवासीदेव दश प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। इनकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम और जघन्य आयु दश हजार वर्षकी होती है। शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई पच्चीस धनुष और जघन्य ऊचाई दश धनुष प्रमाण है। रत्नप्रभा भूमिका जो सोलह हजार योजन-प्रमाण खरभूमिभाग है, उसके मध्यमे स्थित भवनोमे ये देवनिवास करते है।

दूसरा निकाय व्यन्तर देवोका है। वे किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाचके भेदसे आठ प्रकारके होते हैं। उसी रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पक बहुलभागके मध्यमे ये व्यन्तर देव निवास करते है। इनके शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई दश धनुष है। उनकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है और उत्कृष्ट आयु कुछ कम एक पल्य प्रमाण है। इन व्यन्तर देवोका आहार साढे पाच दिनोके बाद होता है, तथा साढे पाच मुहूर्तोके बाद वे श्वासोच्छ्वास लेते है। इस प्रकार दूसरे निकायवाले व्यन्तर देवोका वर्णन किया।

अब तीसरे निकायवाले ज्योतिष्क देवोका वर्णन करते है—वे ज्योतिष्क देव पाच प्रकार के होते है—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारका। इनमेसे पहिले तारकाओको कहते हैं—मध्यलोकके समधरातलसे ऊपर दश कम आठ सौ (७९०) योजन जाकर तारकाओके विमान (अढाई द्वीपमे) चलते है। उनसे दश योजन ऊपर जाकर सूर्योके विमान हैं। उनसे अस्सी योजन ऊपर

जनानि गत्वा चन्द्राणां विमानानि। तत ऊर्ध्वं चत्वारि-चत्वारि योजनानि गत्वा शुक्राणां बृहस्पतीनां मङ्गलानां शनैश्चराणां क्रमेण विमानानि तिष्ठन्ति, गच्छमानानि सन्तीत्यर्थः।

तेषामनुक्रमेण वृत्तमानव्यासप्रमाणमाह—योजनैकस्यैकषष्टिभागानां मध्ये षट्पञ्चाशद् भागाश्चन्द्रविमानस्य, तथाऽष्टचत्वारिंशद्-भागाः सूर्यविमानस्य भवन्ति। शुक्रविमानस्यैकः क्रोशः, गुरोः पादोनः क्रोशः, बुध-मङ्गलयोर्विमानस्यार्धं क्रोशः प्रमाणम्। तथैव शनैश्चरस्य क्रोशार्धं, तारकाणां क्रोशस्यैकः पादप्रमाणं विमानस्य ¼। नक्षत्राणां विमानस्य प्रमाणं क्रोश एकः १।

चन्द्रसूर्ययोर्विमानयोः किरणाः प्रत्येकं सहस्राणि द्वादश १२००० । १२०००। तथा शुक्रस्य विमानकिरणाः सार्धं शतद्वयम् २५०। तेषामायुःप्रमाणं चन्द्रस्य पल्यमेकं वर्षाणां लक्षैकं च पल्य १, वर्ष १००००० । सूर्यस्यायुःप्रमाणं पल्यमेकं वर्षसहस्रैकम्, पल्य १ वर्ष १००० । शुक्रस्य पल्यमेकमायुः वर्षाणां शतमेकम्, पल्य १ वर्ष १००। गुरोः पल्यमेकम् १। शेषग्रहाणामायुः प्रमाणम् पल्यार्धम् ½। तारकाणां चायुः प्रमाणं पल्यस्य चतुर्थभागः ¼। जघन्येन पल्यस्याष्टमांशः ⅛। इति पञ्चप्रकारज्योतिष्कदेवानां व्यावर्णनं समाप्तम्।

अथ चतुर्थनिकायकल्पवासिनां स्वरूपमाह—मेरोस्तलादूर्ध्वं सार्धरज्जूमध्ये सौधर्मैशानाख्यौ स्वर्गौ भवतः। ततः ऊर्ध्वं सार्धरज्जूपर्यन्तं सनत्कुमार-महेन्द्रनामानौ स्वर्गौ। ततोऽग्रे रज्जूनां षट्स्वर्धेषु ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव-कापिष्ट-शुक्र-महाशुक्रशतार-सहस्रारानत-प्राणतारणाच्युतनामानः

जाकर चन्द्रोके विमान हैं। उनसे चार-चार योजन छोडकर शुक्र, बृहस्पति, मगल और शनैश्चरके विमान क्रमसे अढाई द्वीपमे चलते और उससे आगे अवस्थित रहते हैं।

अव अनुक्रमसे इन ज्योतिष्क देवोंके विमानोका वृत्त-मान (गोलाईका माप) और व्यास-प्रमाण (चौडाईका माप) कहते है—एक योजनके इकसठ भागोमेसे छप्पन भाग-प्रमाण ⁵⁶⁄₆₁ चन्द्र-विमानका विस्तार है। तथा एक योजनके इकसठ भागोमेसे अडतालीस भाग प्रमाण (⁴⁸⁄₆₁) सूर्यके विमानका विस्तार है। शुक्रके विमानका विस्तार एक कोश है। गुरुके विमानका विस्तार पौन कोश है। वुध और मगलके विमानका विस्तार अर्धकोश प्रमाण है। इसी प्रकार शनैश्चरके विमानका विस्तार आधा कोश है। तारकाओके विमानका विस्तार कोशका एक पाद अर्थात् चौथाई कोश (¼)। नक्षत्रोके विमानका प्रमाण एक कोश है।

चन्द्र और सूर्यके विमानकी किरणें प्रत्येकमे बारह-बारह हजार हैं। तथा शुक्रके विमानकी किरणें अढाई सौ २५० हैं। अब इन ज्योतिष्क देवोकी आयुका प्रमाण कहते है—चन्द्रदेवकी आयु एक पल्य और एक लाख वर्ष है (१ पल्य १००००० वर्ष)। सूर्यदेवकी आयुका प्रमाण एक पल्य और एक हजार वर्ष है (१ पल्य, १००० वर्ष)। शुक्रदेवकी आयु एक पल्य और एक सौ वर्ष है(१ पल्य १०० वर्ष)। गुरुकी आयु एक पल्य है। शेष ग्रहोकी आयुका प्रमाण आधा पल्य (½) है। तारकोकी आयु का प्रमाण पल्यका चतुर्थ भाग (¼) है। इनकी जघन्य आयुका प्रमाण पल्यका अष्टम भाग (⅛) है। इस प्रकार पाचो जातिके ज्योतिष्क देवोका वर्णन समाप्त हुआ।

अव चतुर्थ निकाय कल्पवासी देवोका स्वरूप कहते है—मेरुके तलभागसे ऊपर डेढ राजुके मध्यमे सौधर्म और ऐशान नामके दो स्वर्ग हैं। उनसे ऊपर डेढ राजु-पर्यन्त सनत्कुमार और माहेन्द्र नामके दो स्वर्ग है। उनसे आगे छहके आधे अर्थात् तीन राजुओमे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, और आरण-अच्युत नामके बारह स्वर्ग है।

स्वर्गा द्वादश भवन्ति। रज्ज्वैकमध्ये नवग्रैवेयक नवानुदिश-पञ्चानुत्तराः स्यु.। सौधर्मस्य विमानानि द्वात्रिंशल्लक्षाः ३२०००००। तथैशानस्वर्गस्य विमानानि लक्षाणामष्टाविंशति। २८०००००। सनत्कुमारे विमानानि लक्षा द्वादश १२०००००। माहेन्द्रविमानानि लक्षा अष्टौ ८०००००। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयोर्विमानानि चतस्रो लक्षा ४०००००। तत् ऊर्ध्वं लान्तवकापिष्टयोर्विमानानि पञ्चाशत्सहस्राणि ५००००। ततोऽग्रे शुक्र-महाशुक्रयोर्विमानानि चत्वारिंशत्सहस्राणि ४००००। तत् ऊर्ध्वं शतार-सहस्रारयोर्विमानानि षट्सहस्राणि ६०००। ततोऽग्रे आनत-प्राणतारणाच्युतेषु विमानानि सप्तशतानि ७००। ततोऽग्रेऽधोग्रैवेयकत्रये विमानानि शतमेक दशाधिकम् ११०। ततोऽग्रे मध्यमग्रैवेयकत्रये विमानानि सप्तोत्तरशतम्। १०७। तत ऊर्ध्वमूर्ध्वग्रैवेयकत्रये विमानान्येकनवति. ९१। ततोऽग्रे नवानुदिशेषु विमानानि नव ९। तत ऊर्ध्वं पञ्चानुत्तरेषु पञ्चैव विमानानि भवन्ति ५।

सौधर्मस्वर्गे पटलानि ३१ एकत्रिंशत्। विमानान्युक्तानि पूर्वम्। तथायुरुत्कृष्टं सागरद्वयम्। जघन्यं पल्योपममेकम्। तथाऽऽहारवाञ्छा द्विसहस्रवर्षेष्वतीतेषु भवति। द्विपक्षयोरतीतयोरुच्छ्वासैक. स्यात्। तथैवैशानस्वर्गे सर्वं समानम्। देवीनामुत्पत्तिर्द्वितीयस्वर्गं यावद् भवति। आयु प्रमाणमुत्कृष्टं पञ्चपञ्चाशत्पल्यानि षोडशस्वर्गसम्बन्धिनीनाम्। जघन्यमायु. पूर्वीयं पूर्वीयम्। सौधर्मैशानदेवीनामायु. पञ्चपल्योपमानि जघन्यं पल्यमेकम् १। लेश्या मध्यमा पीता। अवधिज्ञानेन प्रथमनरकपर्यन्तं पश्यन्ति देवा.। आत्मानं न पश्यन्ति। शरीरप्रमाण सप्तकरा

उनसे ऊपर एक राजुके मध्यमे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाच अनुत्तर विमान है। सौधर्म स्वर्गके विमान बत्तीस लाख ३२००००० हैं। तथा ऐशान स्वर्गके विमान अट्ठाईस लाख २८००००० हैं। सनत्कुमार स्वर्गके विमान बारह लाख १२००००० हैं। माहेन्द्र स्वर्गके विमान आठ लाख ८००००० है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्त' स्वर्गके विमान चार लाख ४००००० हैं। इनसे ऊपर लान्तव-कापिष्ट स्वर्गके विमान पचास हजार ५०००० हैं। उनसे आगे शुक्र-महाशुक्र स्वर्गके विमान चालीस हजार ४०००० हैं। उनसे ऊपर शतार-सहस्रार स्वर्गके विमान छह हजार ६००० है। उनसे आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके विमान सात सौ ७०० हैं। उनसे आगे अधोग्रैवेयकत्रिकमे विमान दश अधिक सौ ११० हैं। उनसे आगे मध्यम ग्रैवेयकत्रिकमे विमान सात अधिक सौ १०७ है। उनसे ऊपर ऊर्ध्व ग्रैवेयकत्रिकमे विमान इक्यानवे ९१ है। उनसे आगे नौ अनुदिशोमे नौ ९ विमान हैं। उनसे ऊपर पाच अनुत्तरोमे पाच ही विमान ५ है।

सौधर्म स्वर्गमे इकतीस ३१ पटल है। इस स्वर्गके विमानोकी सख्या पहिले कही जा चुकी है। इस स्वर्गके देवोकी उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम है। जघन्य आयु एक पल्योपम है। तथा यहा के देवोको आहार करनेकी इच्छा दो हजार वर्ष व्यतीत होनेपर होती है। दो पक्ष व्यतीत होने पर एक बार उच्छ्वास लेते है। इसी प्रकार ऐशान स्वर्गमे भी सर्व वर्णन समान है। देवियोकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्गतक होती है। (ऊपरके स्वर्गोके देव अपनी अपनी नियोगिनी देवियोको यहासे ले जाते हैं।) सोलहवें स्वर्ग सम्बन्धिनी देवियोकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्यकी है। उनकी जघन्य आयु पूर्व-पूर्वके स्वर्गकी उत्कृष्ट आयुके प्रमाण होती है। सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देवियोकी आयु पाच पल्योपम है। वहाके देवियोकी जघन्य आयु एक पल्यकी है। इन सर्व देवियोंके मध्यम पीत लेश्या होती है। सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देव अवधिज्ञानसे प्रथम नरकके अन्ततक देखते हैं, किन्तु

भवन्ति। उपरितनस्वर्गेषु क्रमहानिक्रमेण हस्तैकप्रमाण शरीरं भवति। आगमानुसारेणान्यदपि ज्ञातव्यमिति गतिमार्गणा समाप्ता ॥१॥

अथेन्द्रियमार्गणा कथ्यते। तद्यथा—एकेन्द्रियजातौ चतसृगतिमध्ये तिर्यग्गतिरेकैव भवति १। पञ्चेन्द्रियाणा मध्ये इन्द्रियमेकमेव स्पर्शनेन्द्रियम् २। षण्णिकायाना मध्ये काया पृथिव्यादय पञ्च ३। पञ्चदशयोगमध्ये योगास्त्रय —औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगा ४। वेदत्रयमध्ये वेदमेक नपुसकम् ५। पञ्चविंशतिकषायाणा मध्ये षोडश कषाया. १६। हास्यादि षट्, नपुंसकं चैको वेदः ६। ज्ञानाष्टकमध्येऽज्ञानद्वय २ कुमति. कुश्रुतिः ७। सयमसप्तकमध्ये एकोऽसयम. ८। दर्शनचतुष्टयमध्ये दर्शनमेक अचक्षु ९। लेश्याषट्कमध्ये कृष्णादित्रयम् १०। भव्याभव्यमध्ये द्वयमेव ११। सम्यक्त्वषट्कमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। सज्ञिद्वयमध्ये एकमसज्ञिकम् १३। आहारकद्वयमध्ये आहारक एक एव(?) १४। चतुर्दशगुणस्थानमध्ये गुणस्थानमेक मिथ्यात्वम् १५। एकोनविंशति जीवसमासमध्ये चतुर्दश स्थावरा १६। षट्पर्याप्तिमध्ये आहार-शरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिश्वासचतुष्टयम् १७। दशप्राणमध्ये प्राणाश्चत्वार १८। सज्ञाचतुष्टयमेव ४ आहार-भय-मैथुन-परिग्रहरूपम् १९। द्वादशोपयोगमध्ये उपयोगात्रयम्—कुमति-कुश्रुत्यचक्षुरिति २०। षोडशध्यानमध्ये ध्यानाष्टकम्—आर्त्त(चतुष्क)रौद्र(चतुष्क) २१। सप्तपञ्चाशत्प्रत्ययमध्ये ५७ अष्टत्रिंशत्प्रत्यया भवन्ति। मिथ्यात्व पञ्च ५, अविरति ७, कषाय २३ योग ३ इति २२। चतुरशीतिलक्षजातिमध्ये

आत्माको नही देखते है। इन दोनो स्वर्गोंके देवोके शरीरकी ऊचाई सात हाथ-प्रमाण है। इनसे ऊपरके स्वर्गोंमे क्रमश हानिके क्रमसे अनुत्तर विमानवासी देवोका शरीर एक हाथप्रमाण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी विशेष कथन आगमके अनुसार जानना चाहिए। इस प्रकार गति मार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ १।

अब इन्द्रियमार्गणा कहते है। यथा—चार गतियोमेसे एकेन्द्रियजातिमे केवल एक तिर्यग्गति ही होती है १। पाच इन्द्रियोमेसे एक ही स्पर्शनेन्द्रिय होती है २। छह कायोमेसे पृथिवी आदि पाच काय होते है ३। पन्द्रह योगोमेसे औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग और कार्मणकाययोग ये तीन योग होते हैं ४। तीन वेदोमेसे एक नपुसक वेद होता है ५। पच्चीस कषायोमेसे सोलह कषाय, हास्यादि छह नोकषाय और एक नपुसकवेद ये तेईस कषाय होती हैं ६। आठ ज्ञानोमेसे कुमति और कुश्रुत ये दो अज्ञान होते हैं ७। सात सयमोमेसे एक असयम होता है ८। चार दर्शनोमेसे एक अचक्षुदर्शन होता है ९। छह लेश्याओमेसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याए होती है १०। भव्य मार्गणामेसे एकेन्द्रिय जातिमे भव्य और अभव्य दोनो होते है ११। छह सम्यक्त्वोमे से एक मिथ्यात्व होता है १२। सज्ञिमार्गणाके दो भेदोमेसे एक असज्ञिपना होता है १३। आहारक मार्गणाके दो भेदोमेसे एक आहारक (?) ही होता है १४। चौदह गुणस्थानोमेसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है १५। उन्नीस जीवसमासोमेसे स्थावरकायसम्बन्धी चौदह जीवसमास होते हैं १६। छह पर्याप्तियोमेसे आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तिया होती है १७। दश प्राणोमेसे चार प्राण होते हैं १८। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारो ही सज्ञाए होती है १९। बारह उपयोगोमेसे कुमति, कुश्रुत और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग होते है २०। सोलह ध्यानोमेसे आर्त्तचतुष्क और रौद्रचतुष्क ये आठ ध्यान होते है २१। सत्तावन बन्ध-प्रत्ययोमेसे मिथ्यात्व पाच ५, अविरति सात ७, कषाय तेईस २३, और योग तीन ३, इस प्रकार अड़तीस

द्विपञ्चाशल्लक्षजातयो भवन्ति ५२००००० । २३ । सार्धनवनवत्यधिकशतकोटिकुलमध्ये सप्तषष्ठिकोटिकुलानि भवन्ति पृथिव्यादीनां २४ । इति चतुर्विंशतिस्थानगतैकेन्द्रियजातिर्वर्णिता ।

अथ तथैव द्वीन्द्रियजातिः कथ्यते । तद्यथा—गतिरेका तिर्यग् भवति १ । जातिरपि द्वीन्द्रियाख्यैका २ । काय एकस्त्रसकायः ३ । योगा ४ औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणवचनरूपाः ४ । वेद एको नपुंसकम् ५ । कषायाः २३ षोडश कषायाः १६ नोकषाया ६ हास्यादयो नपुंसकं च ६ । ज्ञाने कुमतिकुश्रुती द्वे ७ । संयममध्ये एकोऽसंयमो भवति ८ । दर्शनमध्येऽचक्षुरेकम् ९ । लेश्यामध्ये कृष्णाद्यास्तिस्र १० । भव्याभव्यौ द्वौ भवतः ११ । सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२ । संज्ञ्यसंज्ञिमध्येऽसंज्ञि १३ । आहारकानाहारकमध्ये आहारकमेकम् १४ । गुणस्थानं प्रथममेकम् १५ । जीवसमासमध्ये द्वीन्द्रियजीवसमासो भवति १६ । पर्याप्तिपञ्चकं मनो विना १७ । प्राणा षट्—द्वे इन्द्रिये कायवचनोच्छ्वासायुष्कानि १८ । संज्ञाः सर्वाः १९ । उपयोगमध्ये उपयोगत्रयम् २० । ध्यानाष्टकं तदेव २१ । प्रत्ययमध्ये चत्वारिंशत्प्रत्ययाः—मिथ्यात्व ५ असंयम ८ कषाय २३ योगाख्याः ४।२२ । जातिमध्ये द्वीन्द्रियस्य लक्षद्वयम् २०००००।२३। कुलमध्ये सप्तकुलकोटयो भवन्ति २४ । इति द्वीन्द्रियजातिः २ ।

अथ त्रीन्द्रियजातिर्व्याख्यायते । तथाहि—त्रीन्द्रियजातौ गतिचतुष्टयमध्ये तिर्यग्गतिरेका भवति १ । जातिपञ्चकमध्ये त्रीन्द्रियजातिः २ । कायद्वयमध्ये त्रसकायो भवति ३ । योगमध्ये

बन्धप्रत्यय होते हैं २२ । चौरासी लाख जातियोंमेंसे बावन लाख ५२००००० जातियां होती हैं २३ । एकसौ साढे निन्यानवे लाख कुलकोटियोंमेंसे पृथिवीकायादिक एकेन्द्रियोंके सडसठ कोटि कुल होते हैं २४ । इस प्रकार चौबीस स्थानगत एकेन्द्रियजातिका वर्णन किया ।

अब इसी प्रकारसे द्वीन्द्रियजातिका वर्णन करते हैं । यथा—द्वीन्द्रिय जातिमें एक तिर्यग्गति ही होती है १ । द्वीन्द्रियनामक एक ही जाति होती है २ । त्रस नामक एक काय होता है ३ । औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और वचनरूप चार योग होते हैं ४ । वेद एक नपुंसक होता है ५ । पच्चीस कषायोंमेंसे सोलह कषाय, हास्यादि छह नोकषाय और एक नपुंसक वेद ये तेईस कषाय होती हैं ६ । कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान होते हैं ७ । संयमोंमेंसे एक असंयम होता है ८ । दर्शनोंमेंसे एक अचक्षुदर्शन होता है ९ । लेश्याओंमेंसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं १० । भव्यमार्गणामेंसे भव्य और अभव्य दोनों होते हैं ११ । सम्यक्त्वमार्गणामेंसे एक मिथ्यात्व होता है १२ । संज्ञिमार्गणामेंसे एक असंज्ञिपना होता है १३ । आहारक-अनाहारकमेंसे एक आहारकपना होता है १४ । गुणस्थान एकमात्र पहिला होता है १५ । जीवसमासोंमेंसे द्वीन्द्रिय जीवसमास होता है १६ । मनके बिना पांच पर्याप्तियां होती हैं १७ । आदिकी दो इन्द्रियां, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये छह प्राण होते हैं १८ । संज्ञाएं सभी होती हैं १९ । उपयोगोंमेंसे तीन उपयोग होते हैं २० । ध्यानोंमेंसे अशुभ आठ ध्यान होते हैं २१ । बन्धप्रत्ययोंमेंसे मिथ्यात्व ५, असंयम ८ कषाय २३ और योग ४ ये सब चालीस बन्धप्रत्यय होते हैं २२ । जातियोंमेंसे द्वीन्द्रियकी दो लाख २००००० जातियां होती हैं २३ । कुलकोटियोंमेंसे सात करोड़ कुलकोटियां होती हैं २४ । इस प्रकार द्वीन्द्रिय जातिका वर्णन किया ।

अब त्रीन्द्रियजातिका वर्णन करते हैं । यथा—त्रीन्द्रियजातिमें चार गतियोंमेंसे एक तिर्यग्गति है १ । पांच जातियोंमेंसे एक त्रीन्द्रिय जाति है २ । दो कायोंमेंसे एक त्रसकाय है ३ । पन्द्रह

योगचतुष्टयम्—औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणवचनसंज्ञम् ४। वेदमध्ये नपुंसकमेकम् ५। कषायमध्ये कषायास्त्रयोविंशति स्त्रीपुंविना ६। ज्ञानमध्ये कुमति कुश्रुती द्वे ७। संयमम ये असंयमम ८। दर्शनमध्ये अचक्षुर्दर्शनमेकम्। ९। लेश्या कृष्णादित्रयम् १०। भव्याभव्यद्वयम् ११। सम्यक्त्वषट्कमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। सञ्ज्यसञ्ज्ञिमध्ये असञ्ज्ञिरेव १३। आहारकत्वमेकम् १४। गुणस्थानमेकम् १५। जीवसमासमध्ये त्रीन्द्रियजीवसमास. १६। पर्याप्तिपञ्चक मनो विना १७। प्राणा सप्त—इन्द्रियद्वयमनोभ्या विना १८। सञ्ज्ञाचतुष्टयम् १९। उपयोगत्रयम्—कुमतिकुश्रुत्यचक्षूंषि २०। ध्यानाष्टकम्—आर्त्तरौद्ररूपम् २१। प्रत्ययाणामेकचत्वारिंशत्-मिथ्यात्व ५ अविरति ९ कषाय २३ योग ४ इति २२। जातिर्लक्षद्वय त्रीन्द्रियसम्बन्धि २३। कुलकोटीमध्ये लक्षाष्टक भवति त्रीन्द्रियाणाम् २४। इति त्रीन्द्रियजाति।

अथ चतुरिन्द्रियजाति कथ्यते। तद्यथा—चतुरिन्द्रियजातौ तिर्यग्गतिरेकै वभवति १। जातिश्चतुरिन्द्रियाख्या २। षट्कायमध्ये त्रसकाय ३। योगमध्ये चत्वारो योगा—औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणानुभयवचनसञ्ज्ञका ४। वेदमध्ये नपुंसकलिङ्गम् ५। कषायमध्ये कषाया १६ नोकषाय ६। नपुंसकवेद. ६। ज्ञानमध्ये २ कुमति-कुश्रुती ७। संयममध्येऽसंयम एक ८। दर्शनमध्ये चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वयम् ९। लेश्यामध्ये कृष्ण-नील-कापोतत्रयम् १०। भव्याभव्यद्वयम् ११। सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। सञ्ज्ञिमध्येऽसञ्ज्ञी १३। आहारकमध्ये आहारक एक एव १४। गुण

योगोमेसे औदारिकयोग, औदारिकमिश्रयोग, कार्मणयोग और वचन योग ये चार योग है ४। तीन वेदोमेसे एक नपुसकवेद है ५। पच्चीस कपायोमेसे स्त्री और पुरुपवेदके विना तेईस कपाय है ६। आठ ज्ञानोमेसे कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान है ७। सयममार्गणामेसे एक असयम है ८। दर्शनमार्गणामेसे एक अचक्षुदर्शन है ९। लेश्यामार्गणामेसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याए है १०। भव्यमार्गणामे भव्य और अभव्य दोनो हैं ११। छह सम्यक्त्वोमेसे एक मिथ्यात्व है १२। सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञीमेसे एक असञ्ज्ञित्व है १३। आहारक मार्गणामेसे एक आहारकत्व है १४। गुणस्थानोमेसे एक मिथ्यात्व है १५। जीवसमासोमेसे एक त्रीन्द्रियजीवसमास है १६। मनके विना शेष पाच पर्याप्तिया है १७। अन्तिम दो इन्द्रिया और मनके विना शेष सात प्राण है १८। सञ्ज्ञाए चारो है १९। कुमति, कुश्रुत और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग है २०। आर्त्त और रौद्ररूप आठ ध्यान है २१। वन्धप्रत्ययोमे मिथ्यात्व ५, अविरति ९, कषाय २३, और योग ४ ये इकतालीस वन्धप्रत्यय हैं २२। त्रीन्द्रिय सम्बन्धी दो लाख जातिया है २३। कुलकोटियोमेसे त्रीन्द्रियोके आठ लाख कुलकोटिया है २४। इस प्रकार त्रीन्द्रियजातिका वर्णन कया।

अब चतुरिन्द्रिय जातिका वर्णन करते है। यथा—चतुरिन्द्रियजातिमे एक तिर्यग्गति है है १। पाच जातियोमेसे एक चतुरिन्द्रियजाति है २। छह कायोमेसे एक त्रसकाय है ३। पन्द्रह योगोमेसे औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रयोग, कार्मणयोग और अनुभयवचन योग ये चार योग है ४। तीन वेदोमेसे एक नपुसकलिंग है ५। कषायमार्गणामेसे सोलह कषाय, छह नोकषाय, नपुसकवेद ये तेईस कषाय है ६। ज्ञान मार्गणामेसे कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान हैं ७। संयममार्गणामेसे एक असयम हैं ८। दर्शनमार्गणामेसे चक्षु और अचक्षु ये दो दर्शन है ९। लेश्यामार्गणामे कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभलेश्याए हैं १०। भव्यमार्गणामेसे भव्य और अभव्य दोनो है ११। सम्यक्त्वमार्गणामेसे एक मिथ्यात्व है १२। सञ्ज्ञिमार्गणामेसे एक असञ्ज्ञित्व है १३। आहा

स्थानमध्ये मिथ्यात्वम् १५। जीवसमासमध्ये चतुरिन्द्रियजाति १६। पर्याप्तिपञ्चक मनो विना १७। प्राणाः ८ श्रोत्र-मनोभ्या विना १८। संज्ञाश्चतस्रः १९। उपयोगमध्ये ४ कुमति-कुश्रुतिश्चक्षुरचक्षुरिति २०। ध्यानद्वय ८ आर्त्त-रौद्रयो २१। प्रत्ययमध्ये ४२ मिथ्यात्व ५ अविरति १० कषाय २३ योगाः ४।२२। जाति २०००००।२३। कुलकोटी ९ चतुरिन्द्रियस्य २४।

तथा पञ्चेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदा ज्ञातव्या। इति गत्याद्याहारपर्यन्तानि चतुर्दश मार्गणास्थानानि शुद्धात्मनि निश्चयेन न सन्ति। तथा मिथ्यात्व-सासादन-मिश्राविरत-संयतासंयत-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्यन्तानि चतुर्दश गुणस्थानानि यद्यपि व्यवहारानुपचरितासद्भूतनयेनात्मनोऽभिन्नानि, तथापि शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण निश्चयनयेन जीवस्य हेयभूतानि स्वसम्बन्धीनि न भवन्ति।

अपि च एकेन्द्रिय-सूक्ष्म-बादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-सञ्ज्यसंज्ञि-पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नानि चतुर्दश जीवस्थानान्यपि शुद्धात्मनि न भवन्ति। तथा च कर्मक्षयोपशमजनितानि लब्धिरूपस्थानान्यपि यत्रात्मनि न भवन्ति। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपाणि बन्धस्थानान्यपि न सन्ति। गुणस्थानाश्रितोदयस्थानोदीरणास्थान-सत्तास्थानादिकानि च यत्र निश्चयनयेन शुद्धात्मतत्त्वे न भवन्तीत्यर्थं ॥२०॥ अथ—

मार्गणामेसे एक आहारकत्व है १४। गुणस्थानोमेसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान है १५। जीवसमासोमेसे एक चतुरिन्द्रियजाति जीव-समास है १६। मनके विना शेष पाच पर्याप्तिया है १७। श्रोत्रेन्द्रिय और मनके बिना आठ प्राण है १८। चारो सज्ञाए है १९। बारह उपयोगोमेसे कुमति, कुश्रुत, चक्षु और अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग है २०। आर्त-रौद्ररूप आठ ध्यान है २१। बन्धप्रत्ययोमेसे मिथ्यात्व ५, अविरति १०, कषाय २३ और योग ४, ये सब ब्यालीस बन्धप्रत्यय है २२। चतुरिन्द्रियसम्बन्धी दो लाख २००००० जातिया है २३। कुलकोटियोमेसे चतुरिन्द्रियसम्बन्धी नौ कुलकोटिया है २४। (इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जातिका वर्णन किया।)

इसी प्रकार पचेन्द्रियजाति आदिमे पचेन्द्रियमार्गणाके भेद जानना चाहिए। इस प्रकार गतिमार्गणाको आदि लेकर आहारमार्गणा-पर्यन्त चौदह मार्गणास्थान निश्चयनयसे शुद्ध आत्मामे नही है। तथा मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, सयतासयत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण सयत, अनिवृत्तिकरणसयत, सूक्ष्मसाम्पराय सयत, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली तकके चौदह गुणस्थान यद्यपि व्यवहार-अनुपचरित—असद्भूतनयसे आत्मासे अभिन्न है, तथापि शुद्धपारिणामिकभावको ग्रहण करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा ये जीव के स्वसम्बन्धी नही है, अत हेयभूत हैं।

तथा एकेन्द्रिय सूक्ष्म, बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय सज्ञी, असज्ञी ये सातो पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे भिन्न हुए चौदह जीवसमासस्थान भी शुद्ध आत्मामे नही है। इसी प्रकार कर्मोके क्षयोपशम-जनित लब्धिरूप स्थान भी इस शुद्ध आत्मामे नही है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप बन्धस्थान भी शुद्ध आत्मामे नही है। गुणस्थानोके आश्रयसे होनेवाले उदयस्थान, उदीरणास्थान, और सत्तास्थान आदिक भी निश्चयनयसे जिस शुद्ध आत्मतत्त्वमे नही है, ऐसा वह शुद्ध निरजनरूप मै आत्मा हूँ। यह इस गाथाका अर्थ है ॥२०॥

मूलगाथा—फास रस रूव गधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥

सस्कृतच्छाया—स्पर्श-रस-रूप-गन्धा शब्दादिकाश्च यस्य न सन्ति पुन ।
शुद्धश्चेतनभावो निरञ्जन सोऽह भणित ॥२१॥

टीका—'फास' इत्यादि। पदखण्डनारूपेण श्रीकमलकीर्त्तिमुनिना व्याख्यान क्रियत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। 'फास' शीतोष्ण-गुरु-लघु-मृदु-कठिन-स्निग्ध-रूक्षा इत्यष्टप्रकार स्पर्श स्पर्शनेन्द्रियगोचर। 'रस' मधुर-कटुकाम्ल-तीक्ष्ण-कषाया इति पञ्चविधो रसा रसनेन्द्रियविषय। 'रूप' श्वेत-पीत-रक्त-कृष्ण-हरितवर्णा इति चक्षुरिन्द्रियगोचर पञ्चधा रूप। 'गध' सुरभिरूपोदुरभिरूपश्चेति द्विप्रकारो घ्राणेन्द्रियविषयो गन्ध। 'सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो' निषादर्षभ-गान्धार-षड्ज-

---

बहुरि शुद्ध आत्मा ही का लक्षण कहै है—

भा० व०—सो मै हूँ कह्या निरजन ऐसा। बहुरि आठ स्पर्श जाकैं नाही, ताता ठडा हलका भारी लूखा चिकना, नरम कठोर, ए आठ स्पर्श नाही। अर पाच रस हू नाही। खाटा मीठा कडवा कसायला चिरपरा। अर गधके दोय भेद—सुगधता दुर्गंधता। अर रूपका पाच काला धोला पीला लाल हरिया ए नाही। शब्दका विषय सात—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत, निषाद ये सात स्वरभेद हूँ नाही। तो कहा है ? शुद्ध है, अर चेतनाभाव है। भावार्थ—चार इद्रियका वीस विषय अर कर्णइद्रियका सात ये पुद्गल द्रव्यका गुण है। शब्दादिक पुद्गल-पर्याय जे हैं सो हैं। यद्यपि उपचाररूप सद्भूतार्थ नयकरि तो आत्माके है, तथापि शुद्ध निश्चयकरि पुद्गलके है। अर आत्माकैं नाही। ससारका मूलभूत राग द्वेष मोहादिक रहितपणा तै अर केवलज्ञानादि अनत गुण सहितपणातैं शुद्ध है। अर 'चिती सज्ञाने' धातुका प्रयोग यो है—चेत जाकरि करिये, या प्रकार स्व-पर वस्तुस्वरूप चेतना। अर 'भू सत्ताया' धातुका स्वशक्तिकरि आप ही होय सो भाव कहिए चेतना ही है भाव जाका सो चेतनभाव कहिए। अर गया है ज्ञानावरणादिक आठ कर्म-मलतैं उत्पन्न भया अजन पापरूप मैल जिसकैं नाही ऐसा निरजन मै हूँ, ऐसा कह्या है ॥२१॥

अब उस शुद्ध निरजन आत्माका और भी स्वरूप वर्णन करते है—

अन्वयार्थ—(पुणो) और (जस्स) जिसके (फास-रस-रूव-गधा) स्पर्श, रस, गन्ध, रूप (सद्दादीया य) और शब्द आदिक (णत्थि) नही हैं (सो) वह (सुद्धो) शुद्ध (चेयणभावो) चेतनभावरूप (अह) मै (निरजणो) निरजन (भणिओ) कहा गया हूँ।

टीकार्थ—'फास-रस' इत्यादि गाथाका श्रीकमलकीर्त्ति मुनि अर्थ-व्याख्यान करते है, यह सम्बन्धरूप अर्थ सर्वत्र जानना चाहिए। 'फास' नाम स्पर्शका है। वह आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन, स्निग्ध और रूक्ष। यह आठो प्रकारका स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय का विषय हैं। 'रस' मधुर, कटुक, आम्ल, तीक्ष्ण (तिक्त) और कषाय यह पाच प्रकार का रस रसनेन्द्रियका विषय है। 'रूव' श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण और हरित वर्णरूप पाच प्रकार का रूप चक्षुरिन्द्रियका विषय है। 'गध' सुरभिरूप और दुरभिरूप दो प्रकारका गन्ध घ्राणेन्द्रियका विषय है। 'सद्दादीया

मध्यम-धैवत-पञ्चमाश्चेत्यमी सप्त स्वरभेदा शब्दाः कर्णेन्द्रियविषया इति स्पर्शादयो विंशति-संख्याकाः पुद्गलद्रव्यस्य गुणाः शब्दादय पुद्गलपर्यायाश्च यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणात्मन सन्ति, तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुनर्यस्य शुद्धात्मनो न भवन्तीति ज्ञेयम्। तर्हि किंरूपोऽस्ति स एवात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—'सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अह भणिओ' ससारस्य मूलभूतराग-द्वेष-मोहादिदोषरहितत्वात्केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाच्च शुद्धो य, पुनश्च किंविशिष्टश्चेतन-भाव 'चिती संज्ञाने' धातोः प्रयोगोऽयम्। चेत्यतेऽनयेति स्व-परस्वरूप चेतना। भू सत्ताया धातु स्वशक्त्या स्वयं भवतीति भाव। चेतनैव भावो यस्यासौ चेतनभावः। पुनरपि कथम्भूत ? निर-ञ्जन, निर्गतं ज्ञानावरणाद्यष्टकर्ममलाञ्जनं यस्मादसौ निरञ्जन। योऽसौ पूर्वोक्तस्वरूपः शुद्धात्मा भणितः कथित' सोऽहं भवामीति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

इति तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेवविर-चिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणीभूतभव्यपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगततत्त्व-निर-ञ्जनस्वरूपवर्णन नाम द्वितीय पर्व ॥२॥

य जस्स णत्थि पुणो' निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पचम इन सात स्वर-भेदरूप शब्द कर्णेन्द्रियके विषय है। इस प्रकार स्पर्श आदिक बीस सख्यावाले पुद्गल द्रव्यके गुण और शब्दादिक पुद्गलकी पर्याय यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माके होते हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनयसे उस शुद्ध आत्माके नही है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—तो फिर वह आत्मा किस स्वरूप वाला है ?

उत्तर—ऐसा पूछनेपर आचार्य उत्तर देते है—'सुद्धो चेयणभावो णिरजणो सो अह भणिओ' अर्थात्, ससारके मूलभूत राग, द्वेष, मोह आदि दोषोसे रहित होनेसे, तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोसे सहित होनेसे जो शुद्ध चेतन भाव है, वही मै निरजन आत्मा हूँ।

सस्कृत की 'चिती सज्ञाने' धातुसे यह 'चेतना' शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसके द्वारा स्व और परका स्वरूप चेता जाय, जाना जाय, उसे चेतना कहते है। सत्ता अर्थवाली भू धातुसे भावशब्द निष्पन्न होता है। जो अपनी शक्तिसे स्वय उत्पन्न होता है, उसे भाव कहते है। चेतना-रूप भावको चेतनभाव कहते है।

प्रश्न—फिर भी वह चेतनभाव कैसा है ?

उत्तर—निरजन है। ज्ञानावरणादि आठ कर्ममलरूप अजन (कालिमा) जिसमेसे निकल गया है, उसे निरजन कहते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाला जो शुद्धात्मा है, 'वही मै हू' ऐसा श्री जिनदेवने कहा है। यह सर्व कथनका तात्पर्यरूप अर्थ है ॥२१॥

इस प्रकार अतिनिकटभव्यजनोको आनन्दकारक, भट्टारक श्रीकमलकीर्ति-विरचित, कायस्थ माथुरान्वयशिरोमणिभूत भव्यवरपुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विक-सित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमे स्वगत-तत्त्वरूप निरजन आत्माका स्वरूप वर्णन करनेवाला यह दूसरा पर्व समाप्त हुआ ॥२॥

■

तृतीयं पर्व

स्वगततत्त्वमिद शिवसौख्यद परमसाधुजनेहितसत्पदम् ।
अमरसिंहसलक्ष्मण भावय त्वमिह चात्मनि मुक्तिसुखेप्सितम् ॥१॥

इत्याशीर्वाद ।

अथानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्म-नोकर्मादिभावास्तस्यात्मन सन्तीति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं सूत्रकार प्रतिपादयति—

मूलगाथा—अत्थि त्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया ॥२२॥

संस्कृतच्छाया—सन्तीति पुन भणिता नयेन व्यावहारिकेनैते सर्वे ।
नोकर्म-कर्मादय. पर्याया विविधभेदगता ॥२२॥

टीका—'अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे' इत्यादि-पदखण्डनारूपेण टीकाकारो मुनि श्रीकमलकीर्त्तिर्विवृणोति—पुन सन्तीति भणिता प्रोक्ता । के ? ते कला-संस्थान-मार्गणादयः पूर्वोक्ता ये, वक्ष्यमाणास्तु कर्म-नोकर्मजनितभावा', एते सर्वेऽपि पर्याया । कस्य

यह स्वगततत्त्व शिव-सुखका दाता है, परम श्रेष्ठ साधुजन भी इस सत्पदकी इच्छा करते है। इसलिए हे लक्ष्मण-सहित अमरसिंह, यदि तुम इस लोकमे अपने भीतर मुक्तिसुखकी इच्छा करते हो, तो इस स्वगततत्त्वकी भावना करो ॥१॥ (इति आशीर्वाद·)

भा० व०—बहुरि व्यवहारनयकरि कला सस्थान मार्गणादिक पूर्वं कह्या, अर कथ्यमान कर्म नोकर्मनि उत्पन्न भये एते सर्व ही पर्याय कौनकैं होय हैं, अर कौन नयकरि ? अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकरि नोकर्म तो शरीरादिक, अर कर्म ज्ञानावरणादि आठ ते ही पर्याय नाना भेदनि कू प्राप्त भये ससार अवस्थाविषैं जीवकैं कह्या। यद्यपि स्वशुद्धात्माकैं व्यवहारनयकरि अभिन्न ये जे पूर्वोक्त कर्म-जनित भाव है, तो भी निश्चयनय करि परमात्मातैं भिन्न अर हेयभूत त्यागने योग्य है, हे भव्य तू जानि ॥२२॥

अब अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कर्म-नोकर्मादि भाव इस आत्माके हैं, यह बात मनमे रखकर सूत्रकार श्री देवसेन इस वक्ष्यमाण गाथासूत्रको कहते है—

अन्वयार्थ—(पुणो) पुन (ववहारिएण णएण) व्यावहारिक नयसे (विविहभेयगया) अनेक भेद-गत (ए सव्वे) ये सर्व (णोकम्मकम्मणादी) नोकर्म और कर्म-जनित (पज्जाया) पर्याय (अत्थित्ति) जीवके है, ऐसा (भणिया) कहा गया है।

टीकार्थ—'अत्थित्ति पुणो भणिया' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि श्रीकमलकीर्त्ति विवरण करते हैं—पूर्वमे कहे गये कला, सस्थान और मार्गणादिक, तथा वक्ष्यमाण कर्म-नोकर्म-जनित

भवन्ति ? जीवस्य। केन नयेन ? अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण। 'णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया' नोकर्म शरीरादीनि, कर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ, त एव पर्याया विविधभेदगताः संसारावस्थाया जीवस्य भणिता. कथिता। यद्यपि असिद्धात्मनो व्यवहारनयेनाभिन्नान् यान् पूर्वोक्तकर्मजनितान् भावास्तथापि निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नान् हेयभूतांस्तान् जानीहि हे भव्यजनेति भावार्थ ॥२२॥

अथात्मनः कर्मणां च संयोगविशेषं दृष्टान्तद्वारेण सूत्रकारो प्रढयति—

मूलगाथा—संबधो एदेसिं णायव्वो खीर-णीरणाएण।
एक्कत्तो मिलियाणा णिय-णियसब्भावजुत्ताणं ॥२३॥

संस्कृतच्छाया—सम्बन्ध एतयो ज्ञातव्यः क्षीर-नीरन्यायेन।
एकत्वं मिलितयो निज-निजसद्भावयुक्तयो ॥२३॥

टीका—'संवंधो एदेसिं' इत्यादि-पदखण्डनारूपेण टीकाकारो व्याख्यानं करोति—एतयो-जीव-कर्मणो. सम्बन्धज्ञैर्विवेकिभिर्ज्ञातव्यो भवति। कथम् ? सहजातक्षीर-नीरयोरिव न्यायेन लोक-

---

आगैं आत्माकू भिन्न दिखावै है—

भा० व०—जे जीव कर्म तिनिका संबंध है सो सबंधनैं जाननैंवारे विवेकीनिकू जानना जोग्य है—साथि उत्पन्न भया दूध-जलका न्यायकी नाईं लोक प्रसिद्ध मार्गकरि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार बलात् कहिए बलैं एकपणाकरि मिला निज निज स्वभाव गुणयुक्त जीव कर्मनिकैं चेतना अचेतना गुणयुक्तनिके जीव अजीव द्रव्य जे दोय या प्रकार। तथापि शुद्धनिश्चयनयकरि ते जीव पुद्गल दोन्यो ही आप आपके गुण चेतना अचेतनादिकनिकू नाही त्यजै है, आत्मा ज्ञानकू नाही छोडै है, अर चेतना-रहितपुद्गल अचेतनपनाकू नाही त्यजै है ॥२३॥

भाव, ये सभी पर्याय अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनयसे जीवके होते है। 'णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया, अर्थात् शरीरादिक नोकर्म और ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप अनेक भेदगत पर्याय ससार-अवस्थामे जीवके कही गई हैं। यद्यपि असिद्ध (ससारी) आत्माके पूर्वोक्त कर्म-जनित जिन भावोको व्यवहारनयसे अभिन्न कहा गया है, तथापि निश्चयनयसे वे परम शुद्ध सिद्धात्मासे भिन्न हैं, अत हे भव्यजनो, तुम उन्हे हेयभूत अर्थात् छोड़नेके योग्य जानो। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२२॥

अव सूत्रकार देवसेनाचार्य आत्मा और कर्मोके सयोगविशेषको दृष्टान्त-द्वारा दृढ करते हैं—

अन्वयार्थ—(णिय-णियसब्भावजुत्ताण) अपने अपने सद्भावसे युक्त, किन्तु (एक्कत्तो मिलियाण) एकत्वको प्राप्त (एदेसिं) इन जीव और कर्मका (सवधो) सम्बन्ध (खीर-णीरणाएण) दूध और पानीके न्यायमे (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीकार्थ—'सवधो एदेसिं' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—दो द्रव्योके सयोग-सम्बन्धके ज्ञाता विवेकी जनोको इन जीव और कर्मोका सम्बन्ध जन्म-जात दूध-पानीके

प्रसिद्धमार्गेण । 'एकत्तो मिलियाणं णिय-णियसब्भावजुत्ताणं' अनुपचरितासद्भूतव्यवहारबलादेकत्व मिलितयोः निज-निजस्वभावगुणयुक्तयोश्चेतनाचेतनगुणयुक्तयो. जीवाजीवद्रव्ययोर्द्वयोरिति । तथापि शुद्धनिश्चयनयेन ते द्वे अपि स्वकीय गुण चेतनादिक न त्यजत । इति मत्वा सहजानन्दैकरूप-स्व-परप्रकाशकचिद्-गुणचकचकायमाननिजात्मनि भावना कर्तव्येति पण्डितै । क' पण्डित. ? विवेकीति तात्पर्यार्थः ॥२३॥

अथ स्व-परयोर्भेदं दृष्टान्तेन दर्शयति—

मूलगाथा— जह कुणइ को वि भेय पाणिय-दुद्धाण तक्कजोएण ।
णाणी वि तहा भेय करेइ वरझाणजोएण ॥२४॥

संस्कृतच्छाया—यथा करोति कोऽपि भेदं पानीय-दुग्धयोस्तर्कयोगेन ।
ज्ञानी अपि तथा भेद करोति वरध्यानयोगेन ॥२४॥

भा० व०—[1]आगें ज्ञानी स्व-परका भेद कैसे करे, सो कहे हैं—

जैसे कोऊ पुरुष तर्कके योगसे पानी और दूध कू जुदा जुदा करे है, तैसे ही ज्ञानी पुरुष हूँ वर कहिए उत्तम ध्यानके बलकरि स्व-परका भेद करे है ॥२४॥

समान न्यायसे अर्थात् लोक-प्रसिद्ध मार्गसे भिन्न-भिन्न जानना चाहिए । 'एकत्तो मिलियाण णिय-णियसब्भावजुत्ताण' अर्थात् अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनयके बलसे एकत्वरूपसे मिले हुए और अपने-अपने स्वाभाविक गुणसे अर्थात् चेतन-अचेतन गुणसे युक्त—जीव और अजीव इन दोनो द्रव्योका सयोग सम्बन्ध है, तथापि शुद्ध निश्चयनयसे वे दोनो ही अपने-अपने गुण चेतनत्व और अचेतनत्वको नही छोडते हैं । ऐसा मानकर सहजानन्दी, एकरूप, स्व-पर-प्रकाशक, चिद्-गुणसे चकचकायमान (प्रकाशमान या चमकते हुए) अपने आत्मामे पडितजनोको भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥२३॥

प्रश्न—पडित कौन कहलाता है ?

उत्तर—जो सत् और असत्का या स्व-परका विवेकी है ।

अब सूत्रकार स्व-परके भेदको दृष्टात-द्वारा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (को वि) कोई पुरुष (तक्कजोएण) तर्कके योगसे (पाणिय-दुद्धाण) पानी और दूधका (भेय) भेद (कुणइ) करता है, (तहा) उसी प्रकार (णाणी वि) ज्ञानी पुरुष भी (वर-झाणजोएण) उत्तम ध्यानके योगसे (भेय) चेतन और अचेतनरूप स्व-परका (भेय) भेद (करेइ) करता है ।

---

१ ब्यावर भवनकी प्रतिमें गाथा २४ और उसका अर्थ नही है । हमने उसी भाषामें बना करके लिखा है ।
—सम्पादक

टीका—'जह कुणइ को वि भेय' इत्यादि—पदखण्डनारूपेणोत्तरकर्त्ता भट्टारकश्रीपङ्कजकीर्त्तिना व्याख्यान क्रियते। तद्यथा—यथा कश्चिद् दक्षः पुरुष करोति। कम् ? भेदम्। कयो ? पाणिय-दुद्धाण तक्कजोएण' पानीय-दुग्धयो सहजातयो। केन प्रकारेण ? तर्कप्रयोगेण पृथक् पृथक् करोतीत्यर्थं। 'णाणी वि तहा भेय करेइ' वीतरागनिर्विकल्पनिजशुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपभेदाभेदरत्नत्रयभावनोत्पन्नस्वसवेदनज्ञान्यपि तथैव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन भेदं करोति। केन कारणेन ? 'वरझाणजोएण' वरध्यानयोगेन वरं प्रधानं च तद् ध्यानं च वरध्यानम्, वरध्यानस्य योगो वरध्यानयोग., तेन वरध्यानयोगेन। कयोर्भेदम् ? पूर्वोक्तस्व-परद्रव्यस्वरूपयोरिति भेदं कृत्वा मुक्तिललनाभिलाषिणा पुरुषेण निजात्मद्रव्यमुपादेयबुद्ध्या निरन्तर स्मरणीयं भवतीति भावार्थः ॥२४॥

अथ ध्यानेन भेदं कृत्वा किं करोतीति विकल्पं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति सूत्रकर्त्ता। तथा हि—

मूलगाथा—झाणेण कुणउ भेय पुग्गल-जीवाण तह य कम्माण।
घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बभो ॥२५॥

भा० व०—पूर्वोक्त धर्म शुक्लध्यानकरि सोही पूर्वोक्त ज्ञानी भेदकू भिन्न-भिन्न करो। कौन का भेद करै ? पुगद्ल जीवका, शरीर आत्माका। तैसें ही ज्ञानी ज्ञानावरणादिक अष्ट

टीकार्थ—(जह कुणइ को वि भेय) इत्यादि गाथाका उत्तरकर्ता भट्टारक श्री पंकज (कमल) कीर्त्ति अर्थ-व्याख्यान करते है—जैसे कोई दक्ष (कुशल) पुरुष (पाणिय-दुद्धाण) पानी और दूधका जो कि गायके स्तनोसे एक साथ मिले हुए निकलते है—(तक्कजोएण) तर्कके प्रयोग द्वारा पृथक्-पृथक् रूपसे भेद कर देता है (णाणी वि तहा भेय करेइ) वीतराग निर्विकल्प अपने शुद्ध आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूतिरूप भेदाभेदात्मक रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न स्वसवेदन ज्ञानी भी उसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्तके न्यायसे भेद कर देता है।

प्रश्न—किस कारणके द्वारा भेद करता है ?

उत्तर—'वरझाणजोएण' वर अर्थात् प्रधान जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान है उनके योगसे भेद करता है।

प्रश्न—किनका भेद करता है ?

उत्तर—पूर्वोक्त स्व-पर द्रव्यस्वरूप जीव और कर्मोका भेद करता है।

अतएव मुक्ति-ललनाके अभिलाषी पुरुषको उपादेयबुद्धिसे अपने शुद्ध आत्मद्रव्यका निरन्तर स्मरण करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२४॥

अब ध्यानके द्वारा भेद करके ज्ञानी पुरुष क्या करता है, ऐसा विकल्प मनमे धरकर सूत्रकार देवसेन यह वक्ष्यमाण सूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणेण) ध्यानसे (पुग्गल-जीवाण) पुद्गल और जीवका (तह य) और उसी प्रकार (कम्माण) कर्म और जीवका (भेय) भेद (कुणउ) करना चाहिए। तत्पश्चात् (सिद्धसरूवो) सिद्ध-स्वरूप (परो बभो) परम ब्रह्मरूप (णिय अप्पा) अपना आत्मा (घेत्तव्वो) ग्रहण करना चाहिए।

संस्कृतच्छाया—ध्यानेन करोतु भेदं पुद्गल-जीवयोस्तथा च कर्मणाम् ।
ग्रहीतव्य निजात्मा सिद्धस्वरूप पर. ब्रह्म। ॥२५॥

टीका—'झाणेण' इत्यादि टीकाकर्त्ता मुनि· पदखण्डनारूपेण व्याख्यान करोति । 'झाणेण कुणउ भेयं' पूर्वोक्तधर्म-शुक्लध्यानेन स एव पूर्वोक्तज्ञानी भेदभिन्न भिन्नं करोतु । कयो केषा वा ? 'पुग्गलजीवाण तह कम्माण' पुद्गल-जीवयो· शरीरात्मनो , तथैव ज्ञानावरणाद्यष्टविधद्रव्यकर्मणा रागद्वेषादिभावकर्मणा च, औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणादिपञ्चप्रकारशरीरनोकर्मणामपि स्वशुद्धात्मन सकाशात् पृथक्त्वं करोतु । पश्चात् किं कर्तव्य भवतीति क्रियाया अध्याहार· क्रियते । 'घेत्तव्वो णिय अप्पा' निश्चयनयेन द्रव्यकर्मभावकर्म-नोकर्मरहितो निजशुद्धात्मा ग्रहीतव्य । कथम्भूतो निजात्मा ? 'सिद्धसरूवो परो बभो ' सिद्धस्वरूपः—सिद्धं निष्पन्न कृतकृत्य स्वरूप यस्यासौ

प्रकार द्रव्यकर्मनिका अर राग-द्वेषादिक भावकर्मनिका । बहुरि औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणादिक पाच शरीर नोकर्मनिका हू स्वशुद्धात्मातैं हू न्यारा करो । पीछे कहा कर्तव्य होय है ? निज आत्मा कू ही ग्रहण करना योग्य है । कैसा है सिद्ध स्वरूपकू ही उत्पन्न भया है कृतकृत्य अपना स्वरूप जाका । अर सर्वोत्कृष्ट अर स्वज्ञानादिक गुणकरि वृद्धिकौ प्राप्त होय सो ब्रह्म कहिए, ताहि ग्रहण करणा योग्य है ॥२५॥

भावार्थ—भेदज्ञान करके ज्ञानीपुरुष अपने शुद्धस्वरूपको ग्रहण करता है।

टीकार्थ—'झाणेण कुणउ भेय' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-व्याख्यान करते हैं। 'झाणेण कुणउ भेय' अर्थात् पूर्वोक्त धर्मध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा वही पूर्वोक्त ज्ञानी भिन्न-भिन्न रूपसे भेद करे।

प्रश्न—किनका भिन्न-भिन्न भेद करे ?

उत्तर—'पुग्गल-जीवाण तह य कम्माण' पुद्गल और जीवका, अर्थात् शरीर और आत्माका तथैव ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके द्रव्यकर्मोंका, राग-द्वेषादि भावकर्मोंका और औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण आदि पाच प्रकारके शरीररूप नोकर्मोंका भी अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे पृथक्पना करे।

प्रश्न—पीछे क्या करना चाहिए ?

उत्तर—'पश्चात् क्या कर्तव्य है' इस क्रियाका अध्याहार करना चाहिए। तब 'घेत्तव्वो णिय अप्पा' निश्चयनयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित निज शुद्ध आत्मा ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—निज आत्मा कैसा है ?

उत्तर—'सिद्धसरूवो परो बभो' सिद्ध स्वरूप है। 'सिद्ध अर्थात् निष्पन्न हो गया है कृतकृत्य स्वरूप जिसका, वह सिद्धस्वरूप कहलाता है। भावार्थ—जिसे ससारमे करनेके योग्य कोई भी कार्य शेष नही रहा है, उसे कृतकृत्य कहते हैं।

प्रश्न—पुन वह आत्मा किस विशेषतासे युक्त है ?

उत्तर—'पर है' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है।

सिद्धस्वरूप । पुन किंविशिष्ट ? पर सर्वोत्कृष्टः । पुनरपि कथम्भूतः ? ब्रह्मा 'ब्रहि वृद्धौ' धातोः प्रयोगः, स्वज्ञानादिगुणेन बृहति वृद्धिं गच्छतीति ब्रह्मा, परब्रह्मस्वरूपः । इति मत्वा भव्यवर-पुण्डरीकेण त्रिशुद्धचा तत्र सिद्धबुद्धैकस्वभावे निजात्मनि निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यार्थं ॥२५॥

अथासौ निजात्मा कीदृश क्व च तिष्ठतीत्यावेदयति—

मूलगाथा—मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

संस्कृतच्छाया—मल-रहितो ज्ञानमयो निवसति सिद्धौ यादृश सिद्ध ।
तादृशो देहस्थ परमो ब्रह्मा मन्तव्य ॥२६॥

टीका—'मलरहिओ णाणमओ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण भट्टारक-श्रीकमलकीर्त्तिना व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा-'मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो' मल-रहित. शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलाद् रहितत्वादिति ज्ञानमय सकलविमलकेवलज्ञानेन

आगैं जैसा सिद्धालयविषैं सिद्ध है तैसा अपना आत्मा जानना अैसे कहै है—

भा० व०—सिद्धालयविषैं जैसा सिद्ध तिष्ठैं है सो कैसा ? मलरहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नय-करि द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म मलरहित अर ज्ञानमय सकल विमल केवलज्ञानकरि पूर्ण है, तैसा ही देहविषैं तिष्ठता परम कहिए उत्कृष्ट मा जो केवलज्ञानादि लक्ष्मी जिस विषैं सो परमात्मा परमब्रह्म जानना । बहुरि शुद्धनयकरि आत्माकूं ऐसा ध्यावना ॥२६॥

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है ?

उत्तर—ब्रह्मा है, अर्थात् परमब्रह्मस्वरूप है । सस्कृत 'ब्रहि' धातुका प्रयोग वृद्धिके अर्थमे होता है । जो अपने ज्ञानादिगुणोके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मा कहते है ।

इस प्रकार अपने आत्माको परब्रह्मस्वरूप मानकर भव्योमे श्रेष्ठ कमल सदृश उत्तम पुरुषको मन वचन कायरूप त्रियोगकी शुद्धिसे उस सिद्ध, बुद्धैकस्वभाववाले निज आत्माकी निरन्तर भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥२५॥

अब वह निज आत्मा कैसा है और कहा रहता है ? यह सूत्रकार बतलाते है—

अन्वयार्थ—(जारिसो) जैसा (मल-रहिओ) कर्म-मलसे रहित, (णाणमओ) ज्ञानमय (सिद्धो) सिद्धात्मा (सिद्धीए) सिद्धलोकमे (णिवसइ) निवास करता है, (तारिसओ) वैसा ही (परमो बंभो) परमब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा (देहत्थो) देहमे स्थित (मुणेयव्वो) जानना चाहिए ।

टीकार्थ—'मलरहिओ णाणमओ' इत्यादि गाथाका भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति व्याख्यान करते है । यथा—'मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो' शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मलोसे रहित है, अत निर्मल है । तथा वह सकल विमल केवल-ज्ञानसे सम्पन्न है, अत. वह ज्ञानमय है । ऐसा सिद्ध परमात्मा उपचरित सद्भूतव्यवहारनयसे निवास करता है ।

निर्वर्तितत्वाद् ज्ञानमय , उपचरितसद्भूतव्यवहारनयेन निवसति । क्व ? सिद्धो, सिद्धालये यादृश. सिद्ध पूर्वोक्त· परमात्मा तिष्ठति, 'तारिसओ देहत्थो' तादृश एव देहस्थ अनुपचरितासद्भूत-व्यवहारेण देहे तिष्ठतीति देहस्थ । 'परमो बभो मुणेयव्वो' परा उत्कृष्टा मा केवलज्ञानादि-लक्ष्मी यत्रासौ परम , पूर्वोक्त एव ब्रह्मा परमात्मा मन्तव्यो ज्ञातव्य परमासन्नभव्यजीवैर्ज्ञान-वैराग्यवद्भिर्योगिभिरुपादेयबुद्ध्या मनसा स्मरणीयो वचसा वक्तव्य , कायेन तदनुकूलमाचरणीय-महर्निशमिति तात्पर्यार्थ ॥२६॥

अथ शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तस्यैव परमब्रह्मण स्वरूप विवृणोति—

मूलगाथा—णोकम्म-कम्मरहिओ, केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सो हं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालवो ॥२७॥

संस्कृतच्छाया—नोकर्म-कर्मरहित· केवलज्ञानादिगुणसमृद्धो य. ।
सोऽहं सिद्ध शुद्धो नित्य· एको निरालम्बः ॥२७॥

भा० व०—सो सिद्धोऽहं कहिए सो सिद्ध मै हूँ। सो कैसा हूँ ? सिद्ध हू, कृतकृत्य भए है समस्त कृत्य जाकै ऐसा सिद्ध। अर शुद्ध हूँ रागादिक विभाव कल्पना कलकादिक रहितपणातैं शुद्ध हूँ। अर नित्य हूँ कर्मोदयकरि उत्पन्न भए जन्म-मरणादिक रहित। अर एक हूँ सहज जो स्वभाव शुद्ध चिदानन्द एकरूपपणातैं एक अद्वितीय स्वरूप हूँ। अर निरालब हूँ कर्मोदयका अवलबन रहितपणातै निरालब असहाय अन्य आलम्बन रहित हूँ। जो नोकर्म पाच प्रकार शरीर, कर्म ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार द्रव्यकर्म, अर समस्त कर्मोत्पन्न भाव रहित हूँ। अर केवलज्ञानादिक अनन्त गुणनि करि भर्या सम्पूर्ण परमात्मा मुक्तिविषै तिष्ठै सो मै हूँ। या प्रकार गुण विशेष परम ब्रह्म सो ही मैं हूँ ॥२७॥

प्रश्न—कहा निवास करता है ?

उत्तर—सिद्धिमे अर्थात् सिद्धालयमे निवास करता है।

जैसा पूर्वोक्त सिद्ध परमात्मा सिद्धालयमे निवास करता है, वैसा ही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे इस देहमे अवस्थित है। उसे ही 'परमो बभो मुणेयव्वो' परम ब्रह्म मानना चाहिए। पर अर्थात् उत्कृष्ट, मा अर्थात् केवलज्ञानादिरूप लक्ष्मी जिसमे पाई जावे, उसे 'परम' कहते है। भावार्थ--पूर्वोक्त उसी ब्रह्माको परमात्मा जानना चाहिए। वही परमब्रह्म परमात्मा ज्ञान और वैराग्य वाले अत्यन्त निकट भव्य जीवोको उपादेय बुद्धिसे मनके द्वारा स्मरण करनेके योग्य है, वचनके द्वारा कथन करनेके योग्य है और कायके द्वारा तदनुकूल रात-दिन आचरण करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥२६॥

अब सूत्रकार शुद्ध पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे उसी परम-ब्रह्मका स्वरूप विवरण करते है—

अन्वयार्थ—(जो) जो सिद्ध जीव, (णोकम्म-कम्मरहिओ) शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मसे रहित है, (केवलणाणाइ-गुणसमिद्धो) केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे समृद्ध है, (सो हं) वही मै (सिद्धो) सिद्ध हूँ, (सुद्धो) शुद्ध हूँ, (णिच्चो) नित्य हूँ, (एक्को) एक स्वरूप हूँ और (णिरालबो) निरालंब हूँ।

टीका—'णोकम्मकम्म' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण मुनिना व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा–स एव परमात्मा कथम्भूतः ? 'णोकम्म-कम्मरहिओ' नोकर्माणि पञ्चविधशरीराणि, कर्माणि ज्ञानावरणाद्यष्टविधानि द्रव्यकर्माणि, तैः समस्तकर्मजभावैः रहित । पुनरपि किंविशिष्ट ? 'केवलणाणाइ गुणसमिद्धो' निश्चयेन निजस्वरूपप्रकाशको व्यवहारेण लोकालोकादिपरस्वरूपप्रकाशक केवलज्ञानाद्यनन्तगुणै· समृद्ध सम्पूर्णः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति सोऽहं एवंगुणविशिष्ट परमब्रह्मा स एवाहम्। पुनश्च किरूप ? सिद्धो सिद्धः कृतकृत्यो भरितावस्थ· । पुनरपि कीदृशः ? 'सुद्धो' रागादिविभाव कल्पनाकलङ्काभावात् शुद्ध । पुनश्च कीदृक् ? 'णिच्चो' कर्मोदयजनितजन्म-मरणादिरहितत्वान्नित्य । तथैव सहजशुद्धचिदानन्दैकरूपत्वात् एकोऽद्वितीयस्वरूप· । पुनश्च किं लक्षणः ? 'णिरालंबो' कर्मोदयावलम्बनरहितत्वान्निरालम्बोऽसहाय , निर्गतान्यालम्बनानि यस्मादसौ निरालम्ब , तस्मिन्, निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसहजानन्दैकरूपनिराकुलत्व-लक्षणसुखामृतपूरपूरिते निजात्मनि निरन्तरं भावना भावनीया भव्यैरिति भावार्थ· ॥२७॥

टीकार्थ—'णोकम्म-कम्मरहिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं। यथा—वह परमात्मा कैसा है ? 'णोकम्म-कम्मरहिओ' नोकर्म—पाच प्रकारके शरीर, और कर्म-ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके द्रव्यकर्म, तथा समस्त कर्म-जनित रागादि भावोंसे रहित है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है ?

उत्तर—'केवलणाणाइगुणसमिद्धो' निश्चयनयसे निज-स्वरूप-प्रकाशक, और व्यवहारनयसे लोकालोकादि पर-स्वरूप प्रकाशक केवलज्ञानादि अनन्त गुणोसे समृद्ध अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे सम्पन्न परमात्मा मुक्तिमे रहता है, वैसा ही उक्त गुणोसे विशिष्ट परमब्रह्म मैं ही हूँ।

प्रश्न—पुन· मेरा क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ और सर्व गुणोसे परिपूर्ण अवस्था वाला हूँ।

प्रश्न—फिर भी कैसा हूँ ?

उत्तर—रागादि विभाव कल्पनाके कलकका अभाव होनेसे शुद्ध हूँ।

प्रश्न—फिर भी कैसा हूँ ?

उत्तर—कर्मोदय-जनित जन्म-मरणादिसे रहित होनेके कारण नित्य हूँ। तथैव सहज शुद्ध चिदानन्दैकरूप होनेसे एक अर्थात् अद्वितीय रूप हूँ।

प्रश्न—और मेरा क्या लक्षण है ?

उत्तर—'णिरालंबो' कर्मोदयरूप अवलम्बसे रहित होनेके कारण निरालम्ब हूँ। अर्थात् परकी सहायतासे रहित हूँ। जिसके सभी प्रकारके आलम्बन निकल गये है, उसे निरालम्ब कहते हैं। निश्चयनयसे उस वीतराग निर्विकल्प, समाधि-संजात सहजानन्दैकरूप निराकुलत्व लक्षण-वाले सुखामृतसे परिपूर्ण निज आत्मामे भव्य जीवोको निरन्तर भावना भानी चाहिए। यह उस गाथाका भावार्थ है ॥२७॥

अथ पुनरपि विशेषेणामुमेवार्थं प्रकटयति—

मूलगाथा—सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धो हं।
देहपमाणो णिच्चो असखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

संस्कृतच्छाया—सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं अनन्तज्ञानादिसमृद्धोऽहम्।
देहप्रमाणो नित्योऽसंख्यदेशोऽमूर्तश्च ॥२८॥

टीका—सिद्धोहमित्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते। तद्यथा—शुद्धनयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणात्मकसिद्धस्वरूपत्वात् सिद्धोऽहम्, निष्कर्मात्मस्वरूपाद्विपरीतकर्मोदयजनितराग-द्वेष-मोहादिमलरहितत्वात् शुद्धोऽहम्, तेनैव नयेन निरावरणानन्तगुणसमूहमयत्वादनन्तज्ञानादिगुण-समृद्धोऽहं भरितावस्थोऽहम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन पूर्वोपार्जितनिजदेहप्रमाणोऽहम्, तथैवोत्पादव्ययोपाधिकारणभूतकर्मोदयजनितोत्पादव्ययसहितोऽपि शुद्धनिश्चयेन चिदानन्दात्म-टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्योऽहम्, तेनैव नयेन लोकाकाशप्रमितासंख्यातप्रदेशोऽहम्, स्पर्श-रस-गन्ध वर्णवतीमूर्तिहेतुभूतनामकर्मोदयोत्पन्नया मूर्त्या युक्तोऽपि निश्चयेन परमानन्दस्वाभाविक-परप्रकाशककेवलज्ञानमयमूर्तित्वाच्च पौद्गलिकपञ्चेन्द्रियविषयज्ञानेनाग्राह्यत्वादमूर्तोऽहमिति

आगें शुद्धभावकू कहे है—

भा० व०—मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध, मैं अनन्तज्ञानादिक गुणनिकरि भर्या हूँ, अर चरम देह-प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असख्यप्रदेशी हू, बहुरि अमूर्तीक हूँ ॥२८॥

अब फिर भी विशेषरूपसे इसीही उक्त अर्थको प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(सिद्धोह) मै सिद्ध हूँ, (सुद्धो ह) मै शुद्ध हूँ, (अणतणाणाइसमिद्धो ह) मैं अनन्त ज्ञानादिसे समृद्ध हूँ, (देहपमाणो) मै शरीर-प्रमाण हू, (णिच्चो) मै नित्य हू, (असखदेसो) मैं असख्य प्रदेशी हूँ, (अमुत्तो य) और अमूर्त्त हू।

टीकार्थ—'सिद्धो ह' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते है—यथा—शुद्धनयसे केवलज्ञानादि अनन्तगुणात्मक सिद्धोके समान स्वरूप वाला होनेसे मै सिद्ध हूँ, निष्कर्म आत्मस्वरूपसे विपरीत कर्मोके उदयसे उत्पन्न हुए राग, द्वेष, मोह आदि मलोसे रहित होनेके कारण मै शुद्ध हूँ, उसी शुद्धनयकी अपेक्षा निरावरण अनन्त गुणोके समूहमय होनेसे मै अनन्तज्ञानादि गुणोसे समृद्ध हूँ, अर्थात् अनन्त गुणोसे भरी हुई अवस्थावाला हूँ। अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयसे पूर्व कर्मो-पार्जित अपने शरीरके प्रमाण हू, तथैव उत्पाद-व्ययरूप उपाधिके कारणभूत कर्मोदयसे उत्पन्न उत्पाद और व्ययसहित होता हुआ भी शुद्ध निश्चयनयसे चिदानन्दस्वरूप टकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी होनेसे मै नित्य हूँ, उसी ही शुद्ध निश्चयनयसे लोकाकाश-प्रमाण असख्यात प्रदेशवाला मैं हू, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्त्तिके कारणभूत नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मूर्त्तिसे सयुक्त होता हुआ भी तथा निश्चयनयसे परमानन्द स्वाभाविक, पर-प्रकाशक केवलज्ञानमयी मूर्त्तिवाला होनेसे पौद्गलिक पाच इन्द्रियोंके विषयभूत ज्ञानके द्वारा अग्राह्य होनेसे मै अमूर्त्त हू। इसप्रकार

निरन्तर-भेदज्ञानभावनाबलेन मोक्षाभिलाषिणात्यासन्नभव्येन स्वशुद्धात्मनि भावनया भाव्यमिति भावार्थः ॥२८॥

अथानन्तर स्वध्यानेनात्मन किं प्रकटयतीत्यभिप्रायं मनसि कृत्वाऽऽचार्यश्रीदेवसेनदेव सूत्रमिद प्रतिपादयति—

मूलगाथा—थक्के मणसकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बभसरूव अप्पा झाणेण जोईण ॥२९॥

संस्कृतच्छाया—स्थिते मन संकल्पे रुद्धेऽक्षाणां विषयव्यापारे।
प्रकटयति ब्रह्मस्वरूपं आत्मा ध्यानेन योगिनाम् ॥२९॥

टीका—'अप्पा झाणेण जोईणं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकृता मुनिराजेन व्याख्यानं क्रियते-अयमात्मा परमात्मा ध्यानेन परमयोगिना 'पयडइ बंभसरूव' परमब्रह्मस्वरूपं प्रकटयति प्रकाशयतीत्यर्थः। कस्मिन् सति ? 'थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे' कर्मोदयजनित-मनःसम्भूतलोकाकाशप्रमितसंकल्पौघे स्थिते सति नामकर्मोदयोत्पन्नद्रव्य-भावरूपपञ्चेन्द्रिय-

---

आगैं कहै है—आत्मध्यानकरि परमविशुद्धस्वरूप प्रगट होय है—

भा० व०—योगी जे हैं तिनकैं आत्मध्यान करि परम ब्रह्मस्वरूप है सो प्रगट होय है। कर्मका उदय करि उत्पन्न भया मन तातैं उत्पन्न लोकाकाश-प्रमाण सकल्पनिका समूहनिकूं रुकता सता, अर नामकर्मका उदयकरि उत्पन्न भए द्रव्य-भावरूप पाच इद्रियनिका विषयनिकूं रुकता संता परम ब्रह्म प्रगट होय है ॥२९॥

निरन्तर भेदज्ञानकी भावनाके बलसे मोक्षाभिलाषी अतिनिकट भव्य पुरुषको अपनी शुद्ध आत्मामे भावना भानी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२८॥

अब इसके पश्चात् अपने ध्यानसे आत्माके क्या प्रकट होता है ? इन प्रश्नरूप अभिप्रायको मनमे धारण करके आचार्य श्री देवसेनदेव यह वक्ष्यमाण सूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मणसकप्पे) मनके सकल्पोंके (थक्के) बन्द हो जानेपर (अक्खण) और इन्द्रियोके (विसयवावारे) विषय-व्यापारके (रुद्धे) रुक जानेपर (जोईण) योगियोके (झाणेण) ध्यानके द्वारा (वभसरूव) ब्रह्मस्वरूप (अप्पा) आत्मा (पयडइ) प्रकट होता है।

टीकार्थ—'अप्पा झाणेण जोईण' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनिराज व्याख्यान करते है—यह आत्मस्वरूप परमात्मा ध्यानके द्वारा परमयोगियोके 'पयडइ वभमरूव' परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट अर्थात् प्रकाशित होता है।

प्रश्न—किस कार्य-विशेषके होनेपर परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है ?

उत्तर—'थक्के मणमकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे' अर्थात् कर्मोदय-जनित मनमे उत्पन्न होनेवाले लोकाकाशप्रमाण सकल्प-समूहके स्थित हो जानेपर, तथा नामकर्मके उदयसे उत्पन्न द्रव्य और भावरूप पाचो इन्द्रियोंके विषय-व्यापारके निरुद्ध हो जानेपर परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है।

व्यापारे च निरुद्धे सतीत्येवं मत्वा दुर्ध्यानार्त्त-रौद्रद्वय त्यक्त्वा सर्वोद्यमेनासन्नभव्येन धर्म-शुक्लध्यान-द्वय निरन्तरमुपादेयबुद्ध्या भावनीयमिति भावार्थं ॥२९॥

अथानन्तर दृष्टान्तेन सद्-ध्यानमाहात्म्य पुनरपि विवृणोति—

मूलगाथा— जह जह मणसचारा इंदियविसया वि उवसम जंति ।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाण जह णहे सूरो ॥३०॥

संस्कृतच्छाया—यथा यथा मन संचारा इन्द्रियविषया अपि उपशम यान्ति ।
तथा तथा प्रकटयति आत्माऽत्मान यथा नभसि सूर्य. ॥३०॥

टीका—'जह जह मणसचारा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण मुनिना प्रकटीक्रियते—यथा यथोपशम यान्ति । के के ? मणसचारा इदियविसया वि उवसम जति' कर्मोदयप्रेरितसचलितमनस. सव्यवहारा. पञ्चेन्द्रियविषयाश्च शान्ति गच्छन्तीत्यर्थं । 'तह तह पयडइ अप्पा अप्पाण' तथा तथाऽयमात्मा लब्धकालादिलब्धिरासन्नभव्यसार. स्वात्मानं स्वयं प्रकटयति प्रकाशयति । कथ क इव वा ? 'जह णहे सूरो' यथा नभस्याकाशे सूर्यो घट-पट-स्तम्भ-कुम्भादि-द्रव्यभरित भुवनं

आगें कहै हैं—जैसें जैसें इद्रिय-मनका सचार रुकै है तैसें आत्मा प्रगट होय है—

भा० व०—जैसें जैसें कर्मोदय प्रेरित सक्लेशित मनका सचार व्यवहार पचेंद्रिय विषय जे हैं ते शाति कू प्राप्त होय है तैसें तैसे यो आत्मा लब्ध भया है कालादिलब्धि निकट भव्यता स्मरण करता स्वात्मानें स्वयमेव प्रगट करै है। कैसें कौनकी नाईं ? जैसें आकाश विषैं सूर्य सो घट पट स्तम्भ कुभादिक द्रव्यकरि भर्या जो जगतकू ही प्रगट करै है प्रकाशै है ॥३०॥

ऐसा जानकर आर्त्त-रौद्ररूप दोनो दुर्ध्यानोको छोडकर पूरे उद्यमके साथ निकट भव्यजीवको धर्म और शुक्ल इन दोनो ध्यानोकी निरन्तर उपादेयबुद्धिसे भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२९॥

अब इसके अनन्तर दृष्टान्त-द्वारा सद्-ध्यानके माहात्म्यको फिर भी सूत्रकार वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जह जह) जैसे जैसे, (मणसचारा) मनका सचार और (इदियविसया वि) इन्द्रियोके विषय भी (उवसम) उपशमभावको (जति) प्राप्त होते है, (तह तह) वैसे वैसे ही (अप्पा) अपना आत्मा (अप्पाण) अपने शुद्धस्वरूपको (पयडइ प्रकट करता है। (जह) जैसे (णहे) आकाशमे (सूरो) सूर्य ।

टीकार्थ—'जह जह मणसचारा' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ प्रकट करते हैं—जैसे जैसे उपशमभावको प्राप्त होते है ।

प्रश्न—कौन कौन उपशमभावको प्राप्त होते हैं।

उत्तर—'मणसचारा इदियविसया वि उवसम जति' अर्थात् कर्मके उदयसे प्रेरित अतएव चलायमान मनके सभी व्यापार और पाचो इन्द्रियोके विषय उपशम अर्थात् शान्तिको प्राप्त होते हैं।

प्रकटयन् आत्मानमपि प्रकटयति प्रकाशयतीत्यर्थः । इत्यात्मशक्तिं ज्ञात्वा मिथ्यात्वाद्यज्ञानभावोपार्जितकर्मोदयोत्पन्नपञ्चेन्द्रिय-विषय-रागादिविभावभावास्त्यक्त्वा तमेव शुद्धात्मानमुपादेयबुद्ध्या भो भव्यवरसिंह, अमरसिंह, भवन्तो भावयन्त्विति भावार्थः ॥३०॥

अथ पुनरपि कस्मिन् सति किमयमात्मा करोतीति प्रकटयति—

मूलगाथा—मण-वयण-कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं ।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं ॥३१॥

संस्कृतच्छाया—मनोवचनकाययोगा यतेर्यदि यान्ति निर्विकारत्वम् ।
तदा प्रकटयति आत्मानं आत्मा परमात्मस्वरूपम् ॥३१॥

टीका—'मण-वयण-कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—यदि चेद् यतेर्यतीश्वरस्य निर्विकारत्वं प्राप्नुवन्ति । के ? ते मनोवचनकायरूपा

आगे कहै है—मन वचन कायका योग जैसें जैसें निर्विकार होय तैसें तैसें आत्मा परमस्वरूप कूं प्रगट करै है—

भा० व०—यतीश्वरकैं मन वचन काय जोग हैं ते निर्विकारताकूं प्राप्त होत संतै तो तिस यतीकैं यो आत्मा है सो अंतरात्मा परमात्मस्वरूप ब्रह्मरूप आत्माकूं ही स्वयमेव प्रगट करै है, अर प्रगट होय है, तं ही तैं निर्विकार स्वशुद्धात्मा उपादेय है ग्रहण करणें योग्य है ॥३१॥

'तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं' वैसे वैसे ही यह आत्मा, जिसने कालादि लब्धिको प्राप्त किया है और निकट भव्यशिरोमणि है, वह अपने आत्माको स्वयं प्रकट करता है, अर्थात् प्रकाशित करता है ।

प्रश्न—कैसे और किसके समान प्रकाशित करता है ?

उत्तर—'जह णहे सूरो' अर्थात् जैसे आकाशमे सूर्य घट, पट, स्तम्भ, कुम्भ आदि द्रव्योसे भरे हुए भुवनको प्रकाशित करता हुआ अपने आपको भी प्रकाशित करता है ।

इस प्रकार आत्माकी शक्तिको जानकर मिथ्यात्व आदि अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मोके उदयसे उत्पन्न पाचो इन्द्रियोके विषयो रागादि विभाव भावोको छोडकर उसी शुद्ध आत्माकी उपादेयबुद्धिसे हे भव्योमे श्रेष्ठ सिंह अमरसिंह, आप भी भावना करें । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३०॥

अब फिर भी 'क्या होनेपर' यह आत्मा क्या करता है, यह प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(जइणो) योगीके (जइ) यदि (मण-वयण-कायजोया) मन, वचन और काययोग (णिव्वियारत्तं) निर्विकारताको (जंति) प्राप्त हो जाते हैं (तो) तो (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) अपने (परमप्पयसरूवं) परमात्मस्वरूपको (पयडइ) प्रकट करता है ।

टीकार्थ—'मण-वयण-कायजोया' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—यदि यति अर्थात् मुनिराजके परिस्पन्दरूप मन वचन काय ये तीनो योग निश्चलताको प्राप्त होते हैं, 'तो

योगा. परिस्पन्दरूपा निश्चलत्व गच्छन्तीत्यर्थं । 'तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूव' तदा तस्य यते. साधोरयमात्माऽन्तरात्मा परमात्मस्वरूपं परमब्रह्मरूपमात्मान स्वय प्रकटयति प्रकटी-भवतीत्यर्थं । तत· स एव निर्विकार. स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ।।३१।।

अथानन्तरमुपसहाररूपेण ध्यानमाहात्म्य प्रतिपादयति—

मूलगाथा—-मण-वयण-कायरोहे (वज्झइ) रुज्झइ कम्माण आसवो णूण ।
चिर-बद्ध गलइ सय फलरहिय जाइ जोईण ।।३२।।

संस्कृतच्छाया—मनोवचनकायरोधे रुध्यति कर्मणामास्रवो नूनम् ।
चिर-बद्धं गलति स्वय फलरहितं याति योगिनाम् ।।३२।।

टीका—'मण-वयण-काय' इत्यादि व्याख्यान क्रियते—'मण-वयण-कायरोहे' मनोवचनकाये निरोधे सति । तथा हि—कर्मोदयजनितशुभाशुभसंकल्परूपेण चलनं मन , एवविधे-मनोव्यापारे

आगे मन वचन कायका योगका रोकना होत सते नवीन कर्मका आगमन रुकै है, अैसें कहै हैं—

भा० व०—जोगीश्वरनिकै मन वचन काय निरोध जो है सो होत सतै, सोई कहै हैं कर्म-का उदयकरि उत्पन्न भया शुभाशुभ सकल्परूपकरि चलायमान मन, या प्रकार मनका व्यापार कू होत सतै, तैसैं ही वचनात्मरूप करि या प्रकार करू, या प्रकार विकल्परूप वचन, अर मन वचनरूप करि प्रवृत्तिरूप काय इति या प्रकार मन वचन कायनिका व्यापारका रोध होत सतैं निश्चयकरि कर्मनिका आश्रव है सो रुकै है। अर चिरकालसचित बाध्या कर्म जातैं स्वयमेव ही गलै है, विनसे हैं। कैसैं कोनकी नाई ? पक्या आम्रादिक फलकी नाई। आलम्वनका अभावतैं वीटकासू पडै है, तैसैं ही मन वचन कायका व्यापारका निरोध होत सतै कर्म झड पडै है, रसदेय खिर जाय है, अर नया बध नाही होय है ।।३२।।

पयडइ अप्पाण अप्पा परमप्पयसरूव' तब उस साधुका यह अन्तरात्मा परमात्मस्वरूपसे अर्थात् परमब्रह्मरूपसे अपने आप प्रकट हो जाता है। इसलिए वह निर्विकार अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।३१।।

अब इसके पश्चात् सूत्रकार उपसहाररूपसे ध्यानका माहात्म्य बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मण-वयण-कायरोहे) मनवचनकायकी चचलता रुकनेपर (कम्माण) कर्मोका (आसवो) आस्रव (णूण) निश्चयसे (रुज्झइ) रुक जाता है। तब (चिर-बद्ध) चिरकालीन बधा हुआ कर्म (जोईण) योगियोका (सय) स्वय (गलइ) गल जाता है और (फलरहिय) फल-रहित (जाइ) हो जाता है।

टीकार्थ—'मण-वयण-कायरोहे' अर्थात् मन वचन कायके निरोध होनेपर। इसका स्पष्टी-करण यह है—कर्मोदय-जनित शुभाशुभसकल्परूपसे सचलनको मन कहते हैं। इस प्रकारके मनका

सति, तथाविधवचनात्मकरूपेणैवमेवं करोमीति विकल्पनं वचः, तद्द्वयानुसारेण प्रवृत्तिरूपः काय इति मनश्च वचश्च कायश्च मनोवचःकायास्तेषां मनोवचःकायानां व्यापार इत्याध्याहार क्रियते, इति मनोवचनकायव्यापारस्तस्मिन् निरोधे सति किं भवति? 'बज्झइ कम्माण आसवो णूणं' नूनं निश्चयेन वध्यते विनश्यते बाध्यते निराक्रियते वाऽसावाऽस्रवः। (रुज्झइ' पाठे रुध्यते निराक्रियते इत्यर्थः)। केषामास्रव.? कर्मणाम्। कथम्भूतानाम्? मिथ्यात्व-रागाद्यज्ञानभावेन स्वयमुपार्जितानामुदयागतानां च कर्मणामास्रवाभावो भवतीत्यर्थः। तथा च 'चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं' चिरकालसचितं बद्धं कर्मजातं स्वयमेव गलति नश्यति। कथं किमिव?

व्यापार होने पर, उसी प्रकार वचनात्मकरूपसे ही 'मै ऐसा करू' इस प्रकारके विकल्पको वचन योग कहते है, उसके होनेपर, तथा इन दोनोके अनुसार शारीरिक प्रवृत्तिको काययोग कहते हैं। इस प्रकारके मन और वचन और कायका समास या समुदाय मन-वचन-काय कहलाता है। यहा पर 'व्यापार' पदका अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होता है कि मन वचन कायके व्यापार-का निरोध होनेपर।

प्रश्न—क्या होता है?

उत्तर—'रुज्झइ कम्माण आसवो णूण' अर्थात् कर्मोका आस्रव निश्चयसे बन्द हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, अथवा बन्द कर दिया जाता है अर्थात् रोक दिया जाता है।

टीकाकारके सामने 'बज्झइ' और 'रुज्झइ' ये दो पाठ रहे है। ऊपरका अर्थ 'बज्झइ' पाठ-का किया गया है। 'रुज्झइ' पाठका अर्थ रोक दिया जाता है अर्थात् निराकृत कर दिया जाता है।

प्रश्न—किनका आस्रव रोक दिया जाता है?

उत्तर—कर्मोका।

प्रश्न—वे कर्म कैसे हैं?

उत्तर—मिथ्यात्व और रागादि अज्ञानभावसे उपार्जित है और उदयागत है।

मन-वचन-कायके रुकने पर ऐसे कर्मोके आस्रवका अभाव हो जाता है। तथा 'चिर-बद्ध गलइ सय फलरहियं जाइ जोईण' अर्थात् चिरकाल-सचित अर्थात् बधा हुआ कर्म-समूह स्वय ही गल जाता है—नष्ट हो जाता है—

प्रश्न—किसके समान कैसे गल जाता है?

उत्तर—पके हुए आम आदि फलोके समान स्वय गल जाता है अर्थात् झड जाता है, क्योकि उसके आलम्बनका अभाव हो जाता है। आलम्ब डठल और आलम्ब्य फल इन दोनोका एक आश्रय होता है। इसलिए वे कर्म फल-रहित हो जाते है, अर्थात् अपने शुभ-अशुभ-फल-प्रदान करनेकी असामर्थ्यको प्राप्त हो जाते है।

प्रश्न—कौन शुभाशुभ फल-प्रदानकी असामर्थ्यको प्राप्त हो जाते है?

उत्तर—चिरकालसे वधे हुए कर्म-समूह।

प्रश्न—किनके?

उत्तर—योगियोके।

पक्वाम्रादिफलवदालम्बाभावात्, आलम्बालम्ब्ययोरेकाश्रयत्वादिति फलरहित स्वकीयशुभाशुभ-फलदानासामर्थ्यं याति प्राप्नोति । किम् ? तदेव चिर-बद्ध कर्मजातम् । केषाम् ? योगिनाम् । कथम्भूताना योगिनाम् ? 'युजि समाधौ' इति योगशब्देन समाधिरुच्यते । योगो विद्यते येषा ते योगिनस्तेषा योगिना सम्यग्ज्ञानिनामिति । तथा चोक्तम्—

साम्य स्वास्थ्य समाधिश्च योगश्चेतो-निरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका. ॥२३॥

इति योगमाहात्म्य ज्ञात्वा सर्वसावधानेन भव्यैर्निरन्तर योग एव ध्यातव्य इति भावार्थः ॥३२॥

इति तत्त्वसार विस्तरावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारक-श्रीकमलकीर्तिदेवविरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूतभव्यवर-पुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगततत्त्व-परगततत्त्वमुख्यत्वेन ध्यानमाहात्म्यवर्णन नाम तृतीय पर्व ॥३॥



प्रश्न—कैसे योगियोके ?

उत्तर—'युज्' यह सस्कृत धातु समाधिके अर्थमे प्रयुक्त होती है। इसलिए यहा योग शब्द-से समाधिका अर्थ अभीष्ट है। यह योगरूप समाधि जिनके पाई ज ती है, वे योगी कहलाते हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञानी योगियोके चिरकालसे बधे हुए कर्मसमूह स्वय ही गल जाते है। कहा भी है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध, और शुद्धोपयोग—ये सब एकार्थ-वाचक नाम है ॥३२॥

इस प्रकारका योग-माहात्म्य जानकर सर्वप्रकारकी सावधानीके साथ भव्यजनोको निरन्तर योग ही ध्यान करनेके योग्य है, अर्थात् चित्तका निरोध करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३२॥

इस प्रकार अति निकट भव्यजनोको आनन्द करनेवाले, भट्टारक श्रीकमलकीर्त्तिदेव-विरचित, कायस्थ माथुरान्वयशिरोमणिभूत, भव्यवर-पुण्डरीक, अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विकसित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमे स्वगत तत्त्व और परगततत्त्वकी मुख्यतासे ध्यानके माहात्म्यका वर्णन करनेवाला यह तीसरा पर्व समाप्त हुआ ॥३॥



चतुर्थ पर्व

जिनमतमतसारं धर्मकामार्थबीजं सुर-नरपतिपूज्यं तत्त्वविद्-ध्येयभूतम् ।
स्व-परगतसुतत्त्वं मोक्षमार्गस्वरूपं सुरमृगपतिपुत्र स्वात्मलीनं कुरु त्वम् ॥

(इत्याशीर्वादः)

अथ स्वसमय-परसमयस्वरूप मनसि धृत्वा सूत्रकारा परमार्थवेदिनो वक्ष्यमाण सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति । तत्रादौ परसमयस्वरूपं कथ्यते—

मूलगाथा—ण लहइ भव्वो मोक्ख जावय परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवं पि कुणतो सुद्धे भावे लहु लहइ ॥३३॥

संस्कृतच्छाया—न लभते भव्यो मोक्षं यावत् परद्रव्यव्यापृतश्चित्त ।
उग्रतपोऽपि कुर्वन् शुद्धे भावे लघु लभते ॥३३॥

टीका—'ण लहइ' इत्यादि, न लभते प्राप्नोति । कोऽसौ ? भव्य , आसन्नभव्योऽपि । कम् ? मोक्षम् । 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष' इति वचनात् । केवलज्ञानाद्यनन्तस्वगुणस्वरूपम् ।

जो जिन-भाषित मतका सार है, धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थका बीज है, देवेन्द्रो और नरेन्द्रोसे पूज्य है, तत्त्वज्ञोके द्वारा ध्यान करनेके योग्य है, और मोक्षमार्गस्वरूप है, ऐसे स्वगत और परगत तत्त्वको हे अमरसिंहके पुत्र, तुम इसे अपनी आत्मामे लीन करो अर्थात् धारण करो ।

(इति आशीर्वाद)

आगे कहै है—जितनें परद्रव्य विषै आसक्तचित्त जीव तप करता हू मोक्षकू नाही प्राप्त होय है—

भा० व०—भव्य है सो जितनें परद्रव्य विषैं आसक्तचित्त तिष्ठै है तितने मोक्षकू नाही प्राप्त होय है । कैसा है भव्य । उग्रोग्र तप बाह्याभ्यन्तर द्वादश प्रकारका करता, अर परीषह सहन शील हू, अर शुद्ध मिथ्यात्व-रागादि रहित भाव होत सतैं स्व-सवेदन ज्ञान परिणाम होत सतै, अर शुद्धोपयोग होत सतैं लघु कहिए शीघ्र प्राप्त होय है पूर्वोक्त मोक्ष सो ही आसन्न भव्य कहिए निकट भव्य है सो ॥३३॥

अब स्वसमय-परसमयके स्वरूपको मनमे धारण करके परमार्थवेदी सूत्रकार यह वक्ष्यमाण-सूत्र कहते हैं । वहां प्रथम परसमयका स्वरूप कहते है—

अन्वयार्थ—(जावय) जब तक (चित्तो) मन (पर दव्ववावडो) पर द्रव्योमे व्यापृत (व्यापार-युक्त) है, तव तक (उग्ग तव पि) उग्र तपको भी (कुणतो) करता हुआ (भव्वो) भव्य जीव (मोक्ख) मोक्षको (ण लहइ) नही पाता है । किन्तु (शुद्धे भावे) शुद्ध भावमे लीन होने पर (लहु) शीघ्र ही (लहइ) पा लेता है ।

टीकार्थ—'ण लहइ भव्वो मोक्ख' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—निकट भव्य भी जीव सम्पूर्ण कर्मोके अभावरूप और केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप मोक्षको नही प्राप्त कर पाता है ।

कियत्कालपर्यन्तं न प्राप्नोति ? 'जावय परदव्ववावडो चित्तो' यावन्तं कालं परद्रव्ये व्यापृतचित्त. परद्रव्यासक्तचित्तस्तिष्ठति प्रवर्तते। किं कुर्वन् सन् ? 'उग्गतवं पि कुणतो' उग्रोग्रतरं तपो बाह्याभ्यन्तरादिरूप परीषहोपसर्गसहनशीलमित्येवविधं तप कुर्वन्नप्यासन्नभव्य । अमरसिंहो ब्रवीति—ननु कस्मिन् सति मोक्ष प्राप्यते। 'सुद्धे भावे लहु लहइ' शुद्धे मिथ्यात्व-रागादिरहिते भावे स्वसवेदनज्ञानपरिणामे शुद्धोपयोगे सति लघु शीघ्रमेव लभते प्राप्नोति,तमेव पूर्वोक्त मोक्षमेव स एवासन्नभव्य । अतएव कारणात् स एव शुद्धभावो निरन्तरं सर्वतात्पर्येण तज्ज्ञैर्भव्यैर्भाव्य इति तात्पर्यार्थ ॥३३॥

अथ परद्रव्यलक्षणपूर्वक परसमयत्वफलं प्रकटयति—

मूलगाथा—परदव्व देहाई कुणइ मर्मत्ति च जाय तेसुवरिं ।
परसमयरदो ताव बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥३४॥

संस्कृतच्छाया—परद्रव्य देहादि करोति ममत्व च यावत्तेषामुपरि ।
परसमयरतस्तावद् बध्यते कर्मभिर्विविधै ॥३४॥

आगे परद्रव्यका लक्षण कहै है—

भा० व०—देहादिक परद्रव्यानि पर जितने ममत्वकू करै है, तितने काल पर परसमय-रत भया सता नाना प्रकारके कर्मनिकरि बधै है ॥३४॥

प्रश्न—कितने काल तक नही प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'जावय परदव्ववावडो चित्तो' अर्थात् जितने काल तक चित्त परद्रव्योमे आसक्त रहता है और पर द्रव्योमे प्रवृत्ति करता है, तब तक मोक्षको नही प्राप्त कर पाता है।

प्रश्न—क्या करते हुए भी नही प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'उग्गतव पि कुणतो' अर्थात् उग्रसे उग्रतर भी बाह्य और आभ्यन्तररूप तथा परीषहो और उपसर्गोके सहनेरूप ऐसे महादुष्कर तपको करता हुआ भी निकट भव्य मोक्षको नही प्राप्त कर पाता है।

प्रश्न—यह सुनकर अमरसिंह पूछते हैं कि फिर किसके पानेपर मोक्ष प्राप्त होता है ?

उत्तर—'सुद्धे भावे लहु लहइ' अर्थात् मिथ्यात्व और रागादिसे रहित शुद्ध भावके अर्थात् स्वसवेदनज्ञान-परिणामरूप शुद्धोपयोगके प्राप्त होने पर उसी पूर्वोक्त मोक्षको वही निकट भव्य-जीव लघुकालमे शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

अतएव इसी कारण तत्त्वज्ञ भव्यजीवोको वही शुद्ध भाव निरन्तर सर्व प्रकारसे भावना करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥३३॥

अब पर द्रव्यके लक्षणपूर्वक परसमयकी उपासनाका फल प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(देहाई) देहादिक (परदव्व) पर द्रव्य है, (जाय च) और जब तक (तेसुवरिं) उनके ऊपर (मर्मत्ति) ममत्व भाव (कुणइ) करता है, (ताव) तब तक वह (पर-समय-रदो) पर समयमे रत है, अतएव (विविहेहिं) नाना प्रकारके (कम्मेहिं) कर्मोसे (बज्झदि) बधता है।

टीका—'परदव्वं देहाई' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। तथाहि—परद्रव्यं देहादि, देह आदिर्यस्य तद्देहादि। 'कुणइ ममत्ति च जाम तेसुवरिं' यावत्कालं तस्मिन् परद्रव्ये तस्योपरि वा ममता मूर्च्छा च करोति। 'परसमयरदो तावं' तावत्कालं जीवोऽयं परसमयरतः सन् किं करोति? 'बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं' बध्यते वेष्टयते। कैः? कर्मभिः द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मभिः, मूलोत्तरप्रकृतिभिर्वा विविधैर्नानाप्रकारैः। तथा च बद्धो जीवश्चतुर्गतिषु चतुरशीतिलक्षयोनिषु वा भ्रमितोऽयं जीव। तस्मात्कारणाच्छुद्धबुद्धैकचिज्ज्योतिस्वरूपानाकुलत्वलक्षणातीन्द्रियसुखामृतरससागरान्तर्भूतात्मसुगुणास्पदपरमात्मनः सकाशाद् विलक्षण परद्रव्यं त्रिधा मनोवचनकायेन तत्त्याज्यं भवतीति भावार्थः ॥३४॥

अथाय जीव परसमयः सन् किं किं करोतीति मनसि सम्प्रधार्य सूत्रकारः सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

मूलगाथा—रूसइ तूसइ णिच्च इदियविसएहि वसगओ मूढो।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥३५॥

संस्कृतच्छाया—रुष्यति तुष्यति नित्यमिन्द्रियविषयैः वशगतो मूढ'।
सकषायोऽज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीत ॥३५॥

आगै अज्ञानीका लक्षणकू कहै है—

भा० व०—अज्ञानी मूढ बहिरात्मा सर्वकाल विर्षे कोइक परद्रव्य विर्षे तो रूसै है, अर कोई परद्रव्य विर्षे प्रसन्न हो है। कैसा भया सता? निर्विषय परमात्माका निकटतैं विपरीत ऐसे पाच इन्द्रियनिके विषयकै वशकू प्राप्त भया आसक्त भया सता। बहुरि कैसा होय है? कषाय-सहित क्रोध मान माया लोभ अनतानुबधी कषायनि करि साथि वर्ते सो अज्ञानी है। अर या अज्ञानीतै विपरीत ज्ञानी स्वयमेव अतरात्मा होय है ॥३५॥

टीकार्थ—'परदव्व देहाई' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते है। यथा—देह है आदिमे जिनके ऐसे कुटुम्ब, परिवार और धनादिको देहादि कहते हैं। 'कुणइ ममत्ति च जाम तेसुवरिं' जितने काल तक उन देहादि परद्रव्योके ऊपर ममता अर्थात् मूर्च्छा करता है, 'परसमयरदो ताव' उतने काल तक यह जीव परसमय-रत कहलाता है।

प्रश्न—पर-समय-रत होने पर वह क्या करता है?

उत्तर—'वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं' अर्थात् नाना प्रकारके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मोसे, अथवा मूल और उत्तरकर्म-प्रकृतियोके द्वारा वधता है, वेष्टित होता रहता है।

उक्त प्रकारसे कर्मोके द्वारा वधा हुआ यह जीव चारो गतियो मे, अथवा चौरासी लाख योनियोमे परिभ्रमण करता रहता है। इस कारण शुद्ध वुद्ध एकमात्र चैतन्यज्योतिस्वरूप, अनाकुलता लक्षण वाले अतीन्द्रिय सुखामृतरसरूप-सागरके अन्तर्भूत आत्मिक सुगुणोके स्थानभूत परमात्मासे विलक्षण जो पर-द्रव्य है, वह मन वचन कायरूप तीनो योगोसे त्यागनेके योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३४॥

अव यह जीव पर-समय-रत होता हुआ क्या-क्या करता है? यह प्रश्न मनमे धारण कर सूत्रकार उत्तर-स्वरूप यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(इदिय-विसएहि) इन्द्रियोके विषयोमे (वसगओ) आसक्त (मूढो) मूढ (सकसाओ)

टीका—'रूसइ तूसइ णिच्चं 'इत्यादि, 'रूसइ तूसइ णिच्च इंदियविसएहिं वसगओ मूढो' मूढो बहिरात्माऽज्ञानी नित्य सर्वकालमहर्निश क्वचित्परद्रव्ये रुष्यति, क्वचित्तुष्यति। कथम्भूत सन्? निर्विषयपरमात्मनः सकाशाद् विपरीतैं पञ्चेन्द्रियविषयैर्वशगतो व्यासक्त सन्। पुनरपि किं विशिष्टो भवति? 'सकसाओ अण्णाणी' सकषाय क्रोध-मान-माया लोभानन्तानुबन्धिन कषायास्तै सह वर्तते सकषायोऽज्ञानी, अज्ञानमस्त्यस्यासौ अज्ञानी सकषायो भवति, अज्ञानी च भवति। अन्यथा 'णाणी एत्तो दु विवरीदो' एतस्मात्तु अज्ञानिन सकाशाद् ज्ञानी विपरीतो भवति। कोऽसौ ज्ञानी? स्वसमयोऽन्तरात्मा। इति ज्ञात्वाऽज्ञानपरसमयत्वकषायेन्द्रियादिदोषेभ्यो विलक्षणवीतरागसर्वज्ञशासनमूल यत्स्वसवेदनज्ञान सकलविमलकेवलज्ञानस्य कारणभूतं तदेव ज्ञान सर्वप्रकारेणोपादेयमिति भावार्थ. ॥३५॥

कषाय-युक्त (अण्णाणी) अज्ञानी पुरुष (णिच्च) नित्य (रूसइ) किसीमे रुष्ट होता है और किसीमे (तूसइ) सन्तुष्ट होता है। किन्तु (णाणी) ज्ञानी पुरुष (एत्तो दु) इससे (विवरीदो) विपरीत स्वभाववाला होता है।

टीकार्थ—'रूसइ तूसइ णिच्च' इत्यादि गाथाका अर्थ कहते है—'रूसइ तूसइ णिच्च इदियविसएहि वसगओ मूढो' अर्थात् मूढ बहिरात्मा अज्ञानी पुरुष नित्य सर्वकाल रात-दिन किसी अनिष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्यमे रुष्ट होता है अर्थात् द्वेष करता है और किसी इष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्यमे सन्तुष्ट होता है, अर्थात् प्रसन्न होकर राग करता है।

प्रश्न—कैसा होता हुआ वह किसीमे द्वेष और किसीमे राग करता है?

उत्तर—निर्विषयरूप परमात्मासे विपरीत जो पाचो इन्द्रियोके विषय हैं, उनके वशमे गया हुआ यह इन्द्रिय-विषयासक्त जीव किसी वस्तुमे द्वेष और किसी वस्तुमे राग करता है।

प्रश्न—और यह इन्द्रिय-विषयासक्त जीव कैसा होता है?

उत्तर—'सकसाओ अण्णाणी' सकषाय और अज्ञानी होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ रूप कषायोके साथ जो रहता है, सकषाय कहलाता है। तथा अज्ञान जिसके पाया जाये, वह अज्ञानी कहलाता है। इन्द्रिय-विषयासक्त जीव सकषाय भी है और आत्मज्ञानसे रहित होनेके कारण अज्ञानी भी है। अन्यथा 'णाणी एत्तो दु विवरीदो' अर्थात् इस अज्ञानी और सकषाय जीवसे ज्ञानी विपरीत होता है।

प्रश्न—ज्ञानी कौन कहलाता है?

उत्तर—जो स्व-समय-रत अन्तरात्मा है, वह ज्ञानी कहलाता है।

ऐसा जानकर अज्ञान, पर-समयत्व, कषाय, इन्द्रियादि दोषोसे विलक्षण, वीतराग, सर्वज्ञ-शासनका मूल जो स्वसवेदन ज्ञान है और जो सम्पूर्ण विमल केवलज्ञानका कारणभूत है, वही वीतराग विज्ञान सर्व प्रकारसे उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३५॥

अथानन्तरं स्वसमयस्वरूप सामान्येन प्रतिपादयति—

मूलगाथा—चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थो हु रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥३६॥

संस्कृतच्छाया —चेतनारहितो दृश्यते न च दृश्यतेऽत्र चेतनासहितः।
तस्मान्मध्यस्थोऽहं रुष्यामि च कस्य तुष्यामि ॥३६॥

टीका—'चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ चेयणासहिओ' यस्मात् कारणादत्र लोके यद् दृश्यते किमपि सद् वस्तु । तत्कथम्भूतम् ? षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-घट-पटादिषु मुख्यभूता स्वपर-प्रकाशिका या चेतना, तया रहित पुद्गलद्रव्यं समस्तमेव । न च चिच्चमत्कारमात्रचेतनासहितमात्मद्रव्यं दृश्यते । 'तम्हा मज्झत्थो हुं रूसेमि य कस्स तूसेमि' तस्मात्कारणादहं मध्यस्थ सन् कस्य कस्मिन् कं वा प्रति रुष्यामि, कस्य वा तुष्यामि । प्राकृतव्याकरणवलाद् विभक्ति-लिङ्ग-वचनादीना विपर्ययो भवतीति चेतनाचेतनद्रव्यस्वरूपं ज्ञात्वा । चेतनापि द्विविधा भवति शुद्धाशुद्धविकल्पेति, कर्म-कर्मफलचेतनाभेदेनाशुद्धचेतनापि द्विधा । तत्र या शुद्धबुद्धैकरूपा शुद्धचेतना निरन्तरं भावनीया भव्यजनैरिति तात्पर्यार्थ ॥३६॥

आगैं कहै हैं—कौनमैं रूसै, कौनसैं तूमैं, ऐसा जनावै है—

भा० व०—या लोकविषैं चेतना रहित जड पुद्गल दीसै है, अर, चेतनासहित आत्मा नाहीं दीसै है, ताही कारणतैं मैं जो चेतनास्वरूप ज्ञानी हूँ सो मध्यस्थ हूँ। अव किमसैं रूसू, अर किससैं प्रसन्न होऊँ ॥३६॥

अव इसके पश्चात् सूत्रकार सामान्यसे स्वसमयका स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इत्थ) इस संसारमे (चेयण-रहिओ) चेतन-रहित पदार्थ (दीसइ) दिखाई देता है, (चेयणा-सहिओ) और चेतना-सहित पदार्थ (ण य दीसइ) नहीं दिखाई देता है । (तम्हा) इस कारण (मज्झत्थोह) मध्यस्थ मैं (कस्स) किससे (रूसेमि) रुष्ट होऊं (तूसेमि य) और किससे सन्तुष्ट होऊं ?

टीकार्थ—'चेयण-रहिओ दीसइ' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—जिस कारणसे कि इस लोकमे जो कुछ भी सद्वस्तु दिखाई देती है वह कैसी है ? छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ और घटपटादि पदार्थोंमे मुख्यभूत अर्थात् प्रधान जो स्व-पर-प्रकाशक चेतना है उससे रहित समस्त ही पुद्गल द्रव्यरूप है। चित्-चमत्कारमात्र चेतनासहित जो आत्मद्रव्य है वह दिखाई नहीं देता है । 'तम्हा मज्झत्थोह रूसेमि य कस्स तूसेमि' इस कारण मैं मध्यस्थ होता हुआ किसके साथ, या किसमे अथवा किसके प्रति रुष्ट होऊं ? अथवा किसके प्रति सन्तुष्ट होऊं ? प्राकृत व्याकरणके वलसे विभक्ति, लिंग और वचन आदिका विपरीत रूप हो जाता है । इस प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यका स्वरूप जानकर मुझे किसीमे राग-द्वेष न करके मध्यस्थ ही रहना चाहिए ।

शुद्ध-अशुद्धके भेदसे चेतना भी दो प्रकारकी होती है। पुन कर्म-चेतना और कर्मफल चेतनाके भेदसे अशुद्ध चेतना भी दो प्रकारकी होती है । इनमे जो शुद्धबुद्धैकरूप शुद्ध चेतना है, उसीकी भव्य जीवोंको निरन्तर भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३६॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं द्रढयति—

मूलगाथा—अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि ।
सो मज्झत्थो जोई ण य रूसइ णेय तूसेइ ।।३७।।

संस्कृतच्छाया—आत्मसमाना दृष्टा जीवा सर्वेऽपि त्रिभुवनस्था अपि ।
स मध्यस्थो योगी न च रुष्यति नैव तुष्यति ।।३७।।

टीका—'अप्पसमाणा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्त्रा श्रीपकजकीर्त्तिना व्याख्यानं क्रियते-'अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि' कालादिलब्धिवशाद् येनान्तरात्मना ज्ञानिना त्रिभुवनस्था अपि त्रिभुवनवर्तिन एकेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता. सूक्ष्मबादररूपा सर्वेऽपि जीवा निश्चयनयेनात्मसमाना आत्मसदृशा दृष्टा परिज्ञाता वीतरागसर्वज्ञोक्तागमे(ना)नुभूत्या चान्तरङ्गऽनुभूता आराधिता । स कथम्भूतो भवति ? 'सो मज्झत्थो जोई' स मध्यस्थो मध्ये स्वरूपे तिष्ठतीति मध्यस्थो योग परमसमाधिरस्यास्तीति योगी सन् किं करोति ? 'ण य रूसइ

आगैं कहै है—आप समान अन्य आत्माकू देखता सता कौन विषैं राजी-बेराजी हूं, ऐसैं कहै हैं—

भा० व०—कालादिक लब्धिवशतैं ये अन्तरात्मा ज्ञानीनैं त्रिभुवनका वर्ती एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त सूक्ष्म बादररूप सर्व जीव जे है ते निश्चयनयकरि आपके समान जाने सते वीतराग सर्वज्ञकरि कह्या आगमकी अनुभूति अनुभव करि, वा अन्तरगविषैं अनुभव कीया आराधन कीया सो ज्ञानी कैसा होय है ? मध्यस्थ होय है, मध्यस्वरूप विषैं तिष्ठै है सो मध्यस्थ योगी परम समाधियुक्त भया सता कहा करै है ? न तो रूसै है, नाही तोषकू प्राप्त होय है। कोइक दुष्ट जीवकरि विराधित भया सता रोष नाही करै है, अर कोइक विनयवान भव्य जीवकरि अनेक प्रकार स्तुतिकरि स्तुति कीया सता, आराधना कीया सता हर्ष करै नाही । सोही योगी होय है, अर अन्य नामकरि योगी नाही होय है ।।३७।।

अब फिर भी सूत्रकार उक्त अर्थको ही दृढ करते हैं—

अन्वयार्थ—(तिहुयणत्था वि) तीन भुवनमे स्थित भी (सव्वे वि) सभी (जीवा) जीव (अप्पसमाणा) अपने समान (दिट्ठा) दिखाई देते हैं, (सो) इसलिए वह (मज्झत्थो) मध्यस्थ (जोई) योगी (ण य) न तो (रूसइ) किसीसे रुष्ट होता है (णेय) और नही (तूसेइ) किसीसे सन्तुष्ट होता है ।

टीकार्थ—'अप्पसमाणा' इत्यादि गाथाका टीकाकार श्री कमलकीर्त्ति व्याख्यान करते है—त्रिभुवनमे स्थित सभी जीव जिसने अपने समान देखे हैं, अर्थात् कालादिलब्धिके वशसे जिस अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुषने तीनो लोकवर्ती एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रियो तकके सूक्ष्म और बादर सभी जीव निश्चयनयसे वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये आगमके द्वारा अपने सदृश जाने हैं और अन्तरगमे भलीभातिसे अनुभव किये हैं ।

प्रश्न—वह व्यक्ति कैसा होता है ?

उत्तर—वह योगी मध्यस्थ होता है। जो इष्ट राग और अनिष्ट द्वेष इन दोनोके मध्यमे किसी एकरूप न होकर अपने ज्ञायकस्वरूपमे रहता है, वह मध्यस्थ कहलाता है ।

णेय तूसेइ' न च रुष्यति नैव तुष्यति, केनापि दुष्टजीवेन विराधित सन् रोष न करोति, केनापि विनयवता भव्यजीवेनानेकधा स्तुत आराधित. सन् तोषं हर्षं न करोति, स च योगी भवति, नान्यो नाम्ना योगी भवतीति भावार्थः ॥३७॥

अथानन्तरं पुनरपि सर्वजीवसमानत्वं नयविभागेन दर्शयति—

मूलगाथा—जम्मण-मरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा ।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥३८॥

संस्कृतच्छाया—जन्म-मरणविमुक्ता आत्मप्रदेशैः सर्वे सामान्या. ।
स्वगुणै. सर्वे सदृशा ज्ञानमया निश्चयनयेन ॥३८॥

टीका—'जम्मण-मरण' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते तद्यथा–'जम्मण-मरण-विमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा' लोकाकाशप्रमाणासंख्यातात्मप्रदेशै कृत्वा सर्वे जीवाः समाना एकरूपा. । पुन. कथम्भूताः ' जन्म-मरणविमुक्ता , अपूर्वपर्यायोत्पत्तिरूपं जन्म, निर्विकार-चिदानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनो विपरीतसविकारात्मकायु कर्मविनाशेऽशुद्धप्राणपरित्यागरूप मरणम् । जन्म च मरणं च जन्म-मरणे; जन्म-मरणाभ्या विमुक्ता रहिता जन्ममरणविमुक्ता ।

आगें अन्य हू कहै है—

भा० व०—निश्चयनयकरि सर्व जीव जे हैं ते जन्म मरण करि रहित हैं, लोकाकाश-प्रमाण असख्यात प्रदेशनिकरि सर्वजीव समान हैं, एकरूप है । अर केवलज्ञान-दर्शनादिकनि करि स्वगुण आत्मगुणनिकरि सर्व जीव जे है ते समान है । अर ज्ञानमय केवलज्ञानकरि उत्पन्न भया ज्ञानमय अैसें निश्चयनयकरि जाननें ॥३८॥

योग अर्थात् परम समाधि जिसके पाई जाती है. वह योगी कहलाता है ।

प्रश्न—योगी होकर वह क्या करता है ?

उत्तर—'ण य रूसइ णेव तूसेइ' न रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है । अर्थात् किसी भी दुष्ट जीवके द्वारा विराधना किये जानेपर न तो उसपर रोप करता है, और किसी विनयवान् भव्यजीवके द्वारा अनेक प्रकारसे स्तुति और आराधना किये जानेपर न सन्तोष या हर्ष करता है । ऐसा समदर्शी और समभावी पुरुष ही योगी होता है, अन्य कोई 'योगी' इस नामका धारक व्यक्ति योगी नही कहलाता है । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३७॥

अब इसके अनन्तर फिर भी नय–विभागसे सर्व जीवोकी समानता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णिच्छयणएण) निश्चयनयसे सभी जीव (जम्मणमरणविमुक्का) जन्म-मरणसे विमुक्त (अप्पपएसेहिं) आत्मप्रदेशोकी अपेक्षा (सव्वसामण्णा) सभी समान (सगुणेहिं सव्वसरिसा) आत्मीय गुणोसे सभी सदृश और (णाणमया) ज्ञानमयी है ।

टीकार्थ—'जम्मण-मरणविमुक्का' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—'सभी जीव जन्म-मरणसे रहित और आत्मप्रदेशोसे सब समान हैं ।' इसका अर्थ यह है कि लोकाकाशके प्रदेश-प्रमाण असख्यात आत्म-प्रदेशोकी अपेक्षा सभी जीव समान अर्थात् एक रूप हैं ।

प्रश्न—पुन वे सब जीव कैसे है ?

उत्तर—जन्म और मरणसे विमुक्त हैं । नवीन पर्यायकी उत्पत्तिको जन्म कहते है । निर्वि-

पुनश्च किंविशिष्टास्ते जीवाः ? 'सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण' सकलविमल-लोकालोकप्रकाशकानाद्यनन्तकेवलज्ञान-केवलदर्शनादिभि स्वगुणैरात्मगुणैश्च कृत्वा सर्वे जीवाः सदृशा· समाना· । पुनरपि कथम्भूता ? ज्ञानमया केवलज्ञानेन निर्वृता निष्पन्ना निष्पादिता· ज्ञानमया । केन नयेन ? शुद्धनिश्चयनयेन । इति ज्ञात्वा शुद्धबुद्धैकस्वभावा एवंविधा सर्वे जीवा सर्वप्रकारेणोपादेया भवन्तीति तात्पर्यार्थं ॥३८॥

अथैवंविधभेदज्ञानिना किं फल भवतीति प्रकटयति—

मूलगाथा—इय एव जो बुज्झइ वत्थुसहाव णएहिं दोहिं पि ।
तस्स मणो डहुलिज्जइ ण राय-दोसेहिं मोहेहिं ॥३९॥

सस्कृतच्छाया—इत्येवं यो बुध्यते वस्तुस्वभावं नयाभ्या द्वाभ्यामपि ।
तस्य मनश्चाल्यते न राग द्वेषाभ्या मोहै· ॥३९॥

अैसें पूर्वोक्त दोय नयकरि वस्तुका स्वरूपकूं जानै है ताका मन नाही डुलै है, अैसें कहै है—

भा० व०—पूर्वोक्त प्रकारकरि जो स्वसवेदन ज्ञानी भव्य अन्तरात्मा भया सता जानै है। कहा जानै है ? वस्तुस्वभावं कहिए वस्तुका स्वभाव। काहे करि ? करणरूप भई निश्चय-व्यवहार नयनि करि, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोय नयनि करि। कैसा ताकै जान्या है हेयोपादेय वस्तु-स्वरूप जानै, अैसा जो ज्ञानी ताका मन नाही चलायमान होय है, क्षोभकूं प्राप्त नाही होय है, मलिन नाही होय है। काहे करि ? वीतराग निर्विकार चिदानद एक स्वभाव परमात्मातैं विलक्षण अैसें जे रागीद्वेषी तिनकरि निर्मोह शुद्ध-बुद्ध एक स्वरूप आत्मातैं विपरीत मोहकरि ॥३९॥

कार चिदानन्दैकस्वरूप परमात्मासे विपरीत सविकारी आत्माके आयुकर्मका विनाश होनेपर अशुद्ध प्राणोके परित्यागरूप अवस्थाको मरण कहते है। इस प्रकारके जन्म और मरणसे विमुक्त या रहित जीव जन्म-मरणविमुक्त कहे जाते है।

प्रश्न—पुन वे जीव किस विशेषतावाले हैं ?

उत्तर—'सगुणेहि सव्वसरिसा' अर्थात् सम्पूर्ण विमल, लोकालोक-प्रकाशक, अनादि-अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वगुण एव आत्मगुणोकी अपेक्षा सब जीव समान हैं।

प्रश्न—फिर भी वे सब जीव कैसे है ?

उत्तर—ज्ञानमय हैं। केवलज्ञानसे निर्वृत, निष्पन्न एव निष्पादित होनेके कारण ज्ञानमय हैं।

प्रश्न—किस नयकी अपेक्षा सब जीव समान हैं ?

उत्तर—शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव समान है।

ऐसा जानकर शुद्ध-बुद्ध एकत्व भाववाले ऐसे सभी जीव सर्व प्रकारसे उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३८॥

अब इस प्रकारके भेदज्ञानी पुरुषोको क्या फल प्राप्त होता है, यह प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो ज्ञानी (दोहिं पि) दोनो ही (णएहिं) नयोसे (इय एव) यह इस प्रकारका (वत्थुसहाव) वस्तु-स्वभाव (बुज्झइ) जानता है (तस्स) उसका (मणो) मन (राय-दोसेहिं) राग-द्वेपसे (मोहेहिं) और मोहसे (ण डहुलिज्जइ) डवाडोल नही होता है।

अथ पुनरपि तस्यैव निश्चलचित्तस्य ज्ञानिनो माहात्म्यं दर्शयति—

मूलगाथा—रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्च पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥

सस्कृतच्छाया—रागद्वेषाद्यैश्च चाल्यते नैव यस्य मन सलिलम् ।
स निजतत्त्व पश्यति न खलु पश्यति तस्माद् विपरीतः ॥४०॥

टीका—'रायद्दोसादीहि' इत्यादि, 'रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिल' मिथ्यात्वाज्ञानभावोपार्जितज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मादिदोषरहितपरमात्मनो विलक्षणै रागद्वेषाद्यैश्च यस्यान्तरात्मनो मन सलिल मनोजलं नैव क्षुभ्यते व्याकुलीभवति नैव मलिनीभवति । स किं करोति ? सो णियतच्चं पिच्छइ' स एव परमतत्त्वज्ञानी चिच्चमत्कारमात्र-निजशुद्धात्मतत्त्व पश्यति नित्यमनुभवति । तद्विलक्षण किं करोति ? 'ण हु पिच्छइ तस्स विव-

---

आगैं कहै है—जाका आत्मा राग-द्वेषकरि चलायमान नाही होय है सो ही आत्मा निज तत्त्वकू देखै है, अन्य नाही देखै है—

भा० व०—जा अतरात्माका मनरूप जल जो है सो राग-द्वेषादिकरि नाही क्षोभकू प्राप्त होय है, व्याकुल नाही होय है, मलिन नाही होय है, सो ही परमतत्त्वका जाननेवाला ज्ञानी चित्-चमत्कारमात्र निज शुद्धात्मतत्त्वकू देखै है, नित्य अनुभव करै है । अर तातैं विलक्षण कहा करै है ? परमब्रह्मके जाननेवालेनितैं विपरीत बहिरात्मा स्व-पर स्वरूप ताहि निश्चयकरि नाही देखैं है, नाही जानै है ॥४०॥

अब फिर भी उसी निश्चल चित्तवाले ज्ञानी पुरुषका माहात्म्य दिखलाते है—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसका (मणसलिल) मनरूपी जल (रागद्दोसादीहि य) रागद्वेष आदि के द्वारा (णेय) नही (डहुलिज्जइ) डवाडोल होता है (सो) वह (णियतच्च) निजतत्त्वको (पिच्छइ) देखता है । (तस्स) इससे (विवरीओ) विपरीत पुरुष (ण हु) निश्चयसे नही (पिच्छइ) देखता है ।

टीकार्थ—'रागद्दोसादीहि य' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते है—राग-द्वेष आदिके द्वारा जिसका मन सलिल डवाडोल नही होता है, अर्थात् मिथ्यात्व, और अज्ञान भावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मादि दोषोसे रहित परमात्मासे विलक्षण राग-द्वेषादिके द्वारा जिस अन्तरात्माका मन सलिल—मनरूपी जल क्षोभको प्राप्त नही होता, व्याकुल नही होता और मलिन नही होता है ।

प्रश्न—वह क्या करता है ?

उत्तर—'सो णियतच्च पिच्छइ' अर्थात् वही परमतत्त्वज्ञानी चिच्चमत्कारमात्र निज शुद्ध आत्मतत्त्वको देखता है, अर्थात् नित्य अनुभव करता है ।

प्रश्न—इससे विलक्षण या विपरीत ज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर—'ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ' अर्थात् परब्रह्मरूप आत्मतत्त्वको जाननेवाले उस

रीओ' परमब्रह्मवेदिनस्तस्माद् विपरीतो बहिरात्मा स्व-परस्वरूप न स्फुटं निश्चयेन पश्यति न जानातीति मत्वा राग-द्वेष-मोहादिदोषरहितात् सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितात् परमात्मन सकाशाद् विपरीतभूतराग-द्वेष-मोहत्यागेनासन्नभव्यजनेनान्तरात्मना निर्विकल्पचित्तेन निरन्तर भवितव्यमिति भावार्थः ॥४०॥

अथ दृष्टान्त-दार्ष्टान्ताभ्या तमेवार्थं दर्शयति—

मूलगाथा—सर-सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडिय पि जह रयण ।
मण-सलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥४१॥

संस्कृतच्छाया—सर सलिले स्थिरीभूते दृश्यते व्यक्त निपतितमपि यथा रत्नम् ।
मन सलिले स्थिरीभूते दृश्यते आत्मा तथा विमले ॥४१॥

टीका—'सर-सलिले' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—'सर-सलिले थिरभूए

आगैं कहै है—जैसे सरोवरका जल थिर भये सरोवरविषैं पड्या रतन दीखै है, तैसें ही मनोसरोवरकू स्थिर होत सतैं आत्मा निश्चयकरि दीखै है—

भा० व०—सरोवर-जल है सो स्थिरभूत होत संतैं जैसें निश्चयकरि पड्या हुवा रतनकू प्रगट देखिये है। या दृष्टान्तकरि कहै है—तैसें ही मन सो ही भया मानसरोवरका जल ता विषैं देखिये है। कौनकू ? आत्माकू। 'अत सातत्यगमने' धातुको यह प्रयोग है, स्वयमेव ही आत्माकरि आत्मा विषैं आत्माकू निरन्तरपणा करि गमन करै, प्राप्त होय सो आत्मा जानना। कैसा है मन-जल है सो स्थिरीभूत होत सतै मिथ्यात्व रागादि अज्ञानभावकरि उपार्जित ज्ञानावरणादिक कर्मोदय पवनका समूह मद होत सतैं निस्तरग निश्चल निराकुल होत सतैं। 'कथम्भूते सरोवरे' कहिए कैसे सरोवरविषैं ? विमल कहिए पाप-कर्ममल-रहित ऐसा ॥४१॥

अन्तरात्मासे विपरीत जो बहिरात्मा है, वह स्व और परके स्वरूपको न स्फुटरूप निश्चयनयसे देखता है, और न जानता है।

ऐसा जानकर रागद्वेष मोहादि दोषोसे रहित सकल विमल केवलज्ञानादि अनन्तगुणोसे युक्त परमात्मासे विपरीत स्वरूपवाले रागद्वेष मोहका त्यागकर निकट भव्य अन्तरात्मा पुरुषको निरन्तर निर्विकल्पचित्त होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४०॥

अब सूत्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके द्वारा उसी अर्थको दिखाते है—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (सरसलिले) सरोवरके जलके (थिरभूए) स्थिर होनेपर (णिवडिय पि) सरोवरमे गिरा हुआ भी (रयण) रत्न (णिरु) नियमसे (दीसइ) दिखाई देता है, (तहा) उसी प्रकार (मणसलिले) मनरूपी जलके (थिरभूए) स्थिर होनेपर (विमले) निर्मल भावमे (अप्पा) आत्मा (दीसइ) दिखाई देता है।

टीकार्थ—'सरसलिले' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—
'सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडिय पि जह रयण' अर्थात् जैसे सरोवरके जलके स्थिरी-

दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं' सरःसलिले सरोवरजले स्थिरीभूते सति यथा निश्चयेन निपतितमपि रत्नं व्यक्तं दृश्यते। अनेन दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तमाह—'मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले' तथा मनःसलिले मानससरोजले स्थिरीभूते दृश्यते। कः? असौ आत्मा। कथम्भूतः? 'अत सातत्यगमने' धातो प्रयोगोऽयं स्वयमात्मनात्मन्यात्मा सातत्येन अतति गच्छति प्राप्नोतीत्यात्मा। कथम्भूते मनोजले? पराभूते मिथ्यात्व-रागाद्यज्ञानभावोपार्जितज्ञानावरणादि-कर्मोदयवातसमूहे मन्दीभूते सति निस्तरंगसमुद्रवन्निश्चलीभूते निराकुलीभूते। पुनश्च कथम्भूते? विमले पापकर्ममलरहिते। अथवा सम्यक्त्वरत्नाच्छादकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहिते शुद्धबुद्धैक-स्वरूपात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणभेदेतररत्नत्रयभावनोत्पन्नातीन्द्रियसुखामृतरसपरिपूरिते मन सरोवरे स्वशुद्धात्मरत्न रत्नमिव प्रकट दृश्यते परिज्ञाततत्त्वै. परमयोगिभिर्भव्यजनसुन्दरैः। इति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण स्वशुद्धात्माऽनर्घ्यरत्नमिव ग्राह्यं स्वहिताभिलाषिभिर्भव्यैरिति भावार्थ ॥४१॥

भूत होनेपर अर्थात् तरग-रहित शान्त हो जानेपर उसके भीतर गिरा हुआ भी रत्न निश्चयसे स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य इस दृष्टान्तसे दार्ष्टान्त कहते है—'मणसलिले थिरभूए दीसई अप्पा तहा विमले' उसी प्रकार मनरूपी सरोवरके जलके स्थिर हो जानेपर दिखाई देता है।

प्रश्न—क्या दिखाई देता है?

उत्तर—आत्मा दिखाई देता है।

प्रश्न—वह आत्मा कैसा है?

उत्तर—'आत्मा' यह सस्कृत 'अत' धातुका प्रयोग है, 'अत' धातु निरन्तर गमनके अर्थवाली है। अत जो स्वय अपने द्वारा अपने आपमे सतत (निरन्तर) गमन करता रहता है, अपने स्वरूप-को प्राप्त होता रहता है, उसे आत्मा कहते है। अर्थात् आत्मा निरन्तर गमनशील है। सस्कृत नियमके अनुसार सभी गमनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं, अत वह आत्मा ज्ञानस्वभावी है।

प्रश्न—वह आत्मा किस प्रकारके मनोजलमे दिखाई देता है?

उत्तर—प्रशान्त मनोजलमे दिखाई देता है। जब मिथ्यात्व, रागादि और अज्ञानभावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मोदयरूप पवनसमूहके पराभूत या मन्दीभूत होने पर निस्तरग समुद्र-के समान मन निश्चल या निराकुल हो जाता है, तब दिखाई देता है।

प्रश्न—पुन कैसे मनमे दिखाई देता है?

उत्तर—विमल अर्थात् पापकर्मरूप मलसे रहित मनमे दिखाई देता है। अथवा सम्यक्त्व-रूप रत्नके आच्छादन करने वाले तीन मूढता आदि पच्चीस दोषरूप मलसे रहित, शुद्धबुद्धैक-स्वरूप आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप भेदाभेदात्मक रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखरूप अमृत-रससे परिपूरित मानस-सरोवरमे रत्नके समान जो शुद्ध आत्म-रत्न है, तत्त्वोके ज्ञाता, भव्यजनोमे सुन्दर श्रेष्ठ परमयोगियोको प्रकटरूपसे स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसा जानकर आत्म-हितके अभिलाषी भव्यजनोको सर्वसावधानीपूर्वक उसीमे तत्पर होकर अपना शुद्ध आत्मा अमूल्य रत्नके समान ग्रहण करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४१॥

अथ आत्मतत्त्वे दृष्टे सति योगिना किं भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुड अमाणुसत्तं खणद्धेण ॥४२॥

संस्कृतच्छाया—दृष्टे विमलस्वभावे निजतत्त्वे इन्द्रियार्थपरित्यक्ते ।
जायते योगिन. स्फुटममानुषत्वं क्षणार्धेन ॥४२॥

टीका—'दिट्ठे विमलसहावे' इत्यादि, व्याख्यानं क्रियते—'दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते' दृष्टे स्वसवेदनज्ञानदृष्ट्या दृष्टे सति । कस्मिन् ? निजतत्त्वे स्वशुद्धात्मस्वरूपे । पुन. कथम्भूते ? विमलस्वभावे, विगतानि विनष्टानि कर्माण्येव मलानि यस्मात्तद् विमलं विमलमेव स्वभावो यस्य तद्विमलस्वभावम्, तस्मिन् विमलस्वभावे । पुनरपि कथम्भूते निजतत्त्वे ? इन्द्रियार्थपरित्यक्ते स्पर्शनरसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्राणीति पञ्चेन्द्रियाणि, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्था

आगें कहै हैं—योगीकौ निजतत्त्वकू देखता सता सर्वज्ञपणा होय है—

भा० व०—निज तत्त्व शुद्धात्मा स्वरूप जो है सो देखता सता जोगीनिके प्रगट अधीक्षणकरि अमानुषत्व जो देवत्वपणा परमदेवपणा व सर्वज्ञत्वपना होय है । निर्मल स्वभाव अर इन्द्रिय-अर्थ जो इद्रिय-विषयकरि रहित ऐसा होय है ॥४२॥

अव सूत्रकार आत्मतत्त्वके दिखाई देनेपर योगियोंके क्या होता है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(विमलसहावे) निर्मल स्वभाववाले, (इदियत्थपरिचत्तं) इन्द्रियोके विषयोसे रहित (णियतच्चे) निज आत्मतत्त्वके (दिट्ठे) दिखाई देनेपर (खणद्धेण) आधे क्षणमे (जोइस्स) योगीके (अमाणुसत्त) अमानुषपना (फुड) स्पष्ट प्रकट (जायइ) हो जाता है ।

टीकार्थ—'दिट्ठे विमलसहावे' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है । (दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इदियत्थपरिचत्तं' अर्थात् स्वसवेदनरूप ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर ।

प्रश्न—किसके देखनेपर ?

उत्तर—स्व-शुद्धात्मस्वरूप निजतत्त्वके देखनेपर ।

प्रश्न—पुन वह निजात्मतत्त्व कैसा है ?

उत्तर—विमलस्वभाव है । जिसमेसे कर्मरूप मल विगत या विनष्ट हो गये है, उसे विमल कहते हैं । ऐसा विमलरूप स्वभाव जिसका होता है, वह विमलस्वभाव कहलाता है ।

प्रश्न—फिर भी वह निजतत्त्व कैसा है ?

उत्तर—इन्द्रियोके विषयोंसे रहित है । इन्द्रिया पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । इनके विषय क्रमश स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं । वह शुद्ध निजात्मतत्त्व इन पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित है ।

इति तेषामिन्द्रियाणामर्थाः विषयास्तै परित्यक्तं रहितमिन्द्रियार्थपरित्यक्तम्, तस्मिन्निन्द्रियार्थं-परित्यक्ते। एवंविधे निजात्मस्वरूपे दृष्टे सति किं फल भवतीति शका निराकरोति सूत्रकर्ता। तथाहि-'जायइ जोइस्स फुड अमाणुसत्तं खणद्धेण' क्षणार्धेन क्षणमात्रेण स्फुट निश्चित जायते योगिनो योगिना वा। किं तत् ? अमानुषत्व मानुषस्य भावो मानुषत्वम्, न मानुषत्वममानुषत्व देवत्व सर्वज्ञत्व वा भवतीति मत्वा यदेव मिथ्यात्व-रागादिविषयकषायवशवर्तिना जीवानामरुचिकरं विरक्तिकारकम्, तद्विपरीताना तु निर्विषयातीन्द्रियपरमज्ञान-सुखाद्यनन्तगुणात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणात्मकाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्ग-मोक्षसुखरताना भव्याना तृप्तिजनकं निजात्मस्वरूप तदेवोपादेयमिति भावार्थ ॥४२॥

अथ परद्रव्यपरित्यागेनोपादेयबुद्ध्या स्वशुद्धात्मस्वरूप ध्येयमिति प्रतिपादयति—

मूलगाथा— णाणमय णियतच्च मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा।
ते छंडिय भावेज्जो सुद्धसहाव णियप्पाण ॥४३॥

संस्कृतछाया—ज्ञानमय निजतत्त्वं मुक्त्वा सर्वेऽपि परगता भावाः।
तान् त्यक्त्वा भाव्य शुद्धस्वभावं निजात्मानम् ॥४३॥

फेरि हू कहै हैं—

भा० व०—ज्ञानमय निजात्म तत्त्व ता विना अन्य सर्वभाव परगत ते छाडिकरि निजात्मा-कू भावना जोग्य है। कैसा है निज आत्मा ? शुद्ध स्वभाव है ॥४३॥

इस प्रकारके इन्द्रियोके विषयोसे रहित निज आत्मतत्त्वके देखनेपर क्या फल होता है ? सूत्रकार इस शकाका निराकरण करते हैं—'जायइ जोइस्स फुड अमाणुसत्त खणद्धेण' अर्थात् क्षणार्धसे—आधे क्षणमात्रमे योगीके या योगियोके प्रकट हो जाता है।

प्रश्न—वह क्या प्रकट हो जाता है ?

उत्तर—अमानुषत्व प्रकट हो जाता है। मनुष्यके भावको मानुषत्व कहते है, ऐसे मानुषत्व के अभावको अमानुषत्व कहते हैं। वह अमानुषत्व देवत्व या सर्वज्ञत्वरूप होता है।

वह अमानुषत्व जो मिथ्यात्व, रागादि, विषय और कषायवशवर्ती जीवोको अरुचिकर है, विरक्तिकारक है, वही मिथ्यात्व, रागादि विषय और कषायसे विपरीत निर्विषयरूप अतीन्द्रिय परमज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणात्मक सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चरणात्मक अभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग और मोक्ष-सुखमे निरत भव्यजनोको अत्यन्त तृप्तिजनक है। अतएव वही निजात्मस्वरूप उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४२॥

अब परद्रव्यके परित्याग-पूर्वक उपादेय बुद्धिसे निज शुद्धात्मस्वरूप ध्यान करनेके योग्य है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(णाणमय) ज्ञानमयी (णियतच्च) निजतत्त्वको (मेल्लिय) छोडकर (सव्वेवि) सभी (भावा) भाव (परगया) परगत है, (ते छंडिय) उन्हे छोडकर (सुद्धसहाव) शुद्धस्वभाववाले (णियप्पाण) निज आत्माकी ही (भावेज्जो) भावना करनी चाहिए।

टीका—'णाणमय' इत्यादि, 'णाणमय णियतच्चं मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा' ज्ञानमयं निजात्मतत्त्वं मुक्त्वा सर्वेऽपि ये केचन परगता भावाः, 'ते छंडिय भावेज्जो' तान् सर्वान् त्यक्त्वा भाव्यो भवति। कोऽसौ ? सुद्धसहावं णियप्पाणं' शुद्धस्वभावो निजात्मा। तथा हि—निजात्मतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं स्वकीयमात्मस्वरूपमेकं मुक्त्वा। कथम्भूतम् ? तन्नित्य-निरञ्जन-निर्विकार-स्वपरप्रकाशकानाद्यनन्तकेवलज्ञानेन निर्वृत निष्पन्नं घटित ज्ञानमयं तस्मिन्निजात्मस्वरूपाद् विपरीता ये केचन अपरे परगताः पर पुद्गलादि परद्रव्यं गता मिलिता परगता भावा स्वद्रव्य-गुण-पर्यायैर्भवन्तीति भावा. पदार्थाः सर्वेऽपि चेतनेतरा चेतनाचेतनस्वरूपाः, तान् सर्वान् परगतान् भावान् त्यक्त्वा मनोवचनकायैरुदासीनो भूत्वाऽन्तरात्मभावेन भाव्यो भवनीयो भवति। कोऽसौ ? निजात्मा। कथम्भूत. ? निर्विकारात्मन सकाशाद् विपरीतद्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलकलङ्क-रहितत्वाच्छुद्धस्वस्यात्मनो भाव स्वभाव। शुद्धश्चासौ स्वभावश्च शुद्धस्वभावो निश्चयनयेन। एवंविधो निजात्मा सर्वथोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥४३॥

टीकार्थ—'णाणमय' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं 'णाणमय णियतच्च मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा' अर्थात् ज्ञानमयी अपने आत्मतत्त्वको छोडकर सभी जितने भी कुछ परगत भाव हैं, 'ते छंडिय भावेज्जो' उन सबको छोडकर भावना करनी चाहिए।

प्रश्न—किसकी भावना करनी चाहिए ?

उत्तर—'सुद्धसहाव णियप्पाण' शुद्ध स्वभाववाले निज आत्माकी भावना करनी चाहिए।

इसका खुलासा इस प्रकार है—निज आत्मतत्त्व अर्थात् स्वकीय आत्मस्वरूप चैतन्य चमत्कारमात्र है, नित्य निरजन निर्विकार, स्व-पर-प्रकाशक अनादि-अनन्त केवलज्ञानसे निर्वृत्त, निष्पन्न या घटित है, अत ज्ञानमय है। उस निज आत्मस्वरूपसे विपरीत जितने कुछ भी अन्य पर-गत भाव है, पुद्गलादि परद्रव्य पर कहलाते हैं, उस 'पर' से गत अर्थात् मिलित भाव परगत भाव कहे जाते है। जो स्वद्रव्य, गुण और पर्यायोसे उत्पन्न होते है, उन्हे भाव या पदार्थ कहते हैं। इस प्रकारके सभी चेतन और अचेतनस्वरूप परगत भावोको छोडकर, मन वचन कायसे उदासीन होकर अन्तरात्मभावसे अपने शुद्ध आत्माकी भावना करनी चाहिए।

प्रश्न—वह निज आत्मा कैसा है ?

उत्तर—निर्विकार स्वरूपसे विपरीत द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल-कलकसे रहित होनेके कारण शुद्ध अपने आत्माका जो भाव है, वह स्वभाव कहलाता है। ऐसा शुद्ध जो स्वभाव वह शुद्ध स्वभाव कहा जाता है। ऐसा शुद्धस्वभावी आत्मा निश्चयनयसे सर्वप्रकार उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४३॥

अथानन्तरं यः कश्चिद् भव्यो निजात्मानं ध्यायति, स कथम्भूतो भवतीति मनसि सम्प्रधार्यं सूत्रमिद प्रतिपादयति—

मूलगाथा—जो अप्पाण झायदि सवेयणचेयणाइ उवजुत्तो ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणत्तओ साहू ॥४४॥

संस्कृतच्छाया—य आत्मान ध्यायति सवेदनचेतनाद्युपयुक्तः ।
स भवति वीतरागो निर्मलरत्नत्रय साघुः ॥४४॥

टीका—'जो अप्पाण' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते—'जो अप्पाणं झायदि' य कश्चिद् भव्यजीव. कर्त्ता कर्मतापन्नं निजात्मान ध्यायति, 'स्मृ-ध्यै चिन्तायां ध्यै धातोः प्रयोग, इत्यात्मान स्मरतीत्यर्थ । कथम्भूत सन् ? 'सवेयणचेयणाइ उवजुत्तो' स्वसवेदनचेतनादिभावोपयुक्तः । अयं ध्याता कथम्भूतो भवति ? 'सो हवइ वीयराओ' स एवात्माऽऽराघको वीतरागो भवति । पुनः किंविशिष्ट ? 'णिम्मलरयणत्तओ साहू' निर्मलरत्नत्रयात्मक. साधु । तथाहि–'राध-साध संसिद्धौ' साधयत्यात्मान परं परमात्मानं च साधु, परमाराधको योगी य. किलात्मानं ध्यायति स्मरत्यनुभवतीत्यर्थ । स्वात्मना स्वात्मान सवेद्यते सवेदन स्वयं चेत्यते चेतना, सवेदनं च चेतना च संवेदनचेतने, ते द्वे आदौ येषा ते संवेदनचेतनादय, संवेदनचेतनादिभिर्गुणैरुपयुक्त. सवेदनचेतनाद्युपयुक्तः सन् । स्वरूपं ध्यायन् सन् कथम्भूतो भवति ? वीतो विनष्टो मिथ्यात्वादि-

---

फेरि कहै हैं—

भा० व०—जो साघू आत्माकू ध्यावै है । कैसा भया सता ? स्वसवेदन चेतनादिक भावकरि युक्त भया सता । ध्याता साधू सो ही वीतराग हो है । कैसा होय है ? निर्मल रत्नत्रयमय अैसा ॥४४॥

अब इसके पश्चात् जो कोई भव्य अपनी आत्माका ध्यान करता है, वह कैसा होता है, यह शका मनमे धारण करके आचार्य यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो सवेयणचेयणाइ उवजुत्तो) जो स्वसवेदनचेतनादिसे उपयुक्त (साहू) साघु (अप्पाण) आत्माको (झायदि) ध्याता है (सो) वह (णिम्मलरयणत्तओ) निर्मल रत्नत्रयका धारक (वीयराओ) वीतराग (हवइ) हो जाता है ।

टीकार्थ—'जो अप्पाण झायदि' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जो कोई ध्यान करनेवाला कर्ता योगी कर्मपनेको प्राप्त निज आत्माका ध्यान करता है । 'स्मृ' और 'ध्यै' ये दो धातुए चिन्तनार्थक हैं । 'ध्यायति' यह 'ध्यै' धातुका प्रयोग है, तदनुसार उसका अर्थ होता है कि जो आत्माका स्मरण करता है ।

प्रश्न—कैसा होकर स्मरण करता है ?

उत्तर—'सवेयणचेयणाइ-उवजुत्तो' अर्थात् स्वसवेदन-चेतनादिभावोसे उपयुक्त होकर स्मरण करता है ।

प्रश्न—वह ध्याता कैसा हो जाता है ?

उत्तर—'सो हवइ वीयराओ' वह आराधक आत्मा वीतराग हो जाता है ।

रागो यस्मादसौ वीतरागः स एव भवति। पुनश्च कथम्भूतो भवति ? निर्मलरत्नत्रयो निर्गतानि कर्माण्येव मलानि यस्मात्त निर्मलं निर्मलरत्नत्रयं यस्यासौ निर्मलरत्नत्रयो भवति। इति मत्वा स्वशुद्धात्मैवोपादेयबुद्धया चिन्तनीयो भव्यजनैरिति तात्पर्यार्थः ॥४४॥

अथ निश्चयरत्नत्रयसकललक्षणं दर्शयति—

मूलगाथा—दसण-णाण-चरित्त जोई तस्सेह णिच्छय भणइ।
जो झायइ अप्पाण सचेयणं सुद्धभावट्ठ ॥४५॥

संस्कृतच्छाया—दर्शन-ज्ञान-चारित्रं योगी तस्येह निश्चय भणति।
यो ध्यायत्यात्मान सचेतनं शुद्धभावस्थम् ॥४५॥

भा० व०—या लोकविषैं जोगी है ताकैं निश्चय दर्शन ज्ञानचारित्रकू ही कहै है जो साधू आत्मानैं जानै है। कैसा आत्मा ? सचेतन निर्विकल्प निरजन शुद्धोपयोगस्वरूपकरि उत्पन्न जो चेतना, ताकरि सहित वर्तै सो सचेतन कहिए, सो सचेतनकू ही। बहुरि कैसा आत्मा ? शुद्ध स्वभावस्थ, शुद्धनिश्चयकरि मिथ्यात्व-रागादि दोष-रहितपनातैं शुद्ध। 'भू' सत्ता अर्थ विषैं वर्तै है 'होय' सो भाव कहिए शुद्ध जो भाव, ता शुद्ध भाव विषैं तिष्ठता ॥४५॥

प्रश्न—पुन वह आराधक कैसा होता है ?

उत्तर—'णिम्मलरयणत्तओ साहू' अर्थात् वह आराधक निर्मल रत्नत्रयात्मक साधु होता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सस्कृतमे 'राध' और 'साध' ये दो धातुए सम्यक् सिद्धिके अर्थवाली हैं। जो आत्माको और पर अर्थात् परमात्माको साधता है, वह साधु है और परमाराधक योगी भी है। जो कोई आत्माका ध्यान करता है, स्मरण करता है, अर्थात् वह उसका अनुभव करता है। अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माके अनुभव करनेको सवेदन कहते है। जो स्वय चेते अर्थात् अपने आपको जाने, उसे चेतना कहते हैं। सवेदन और चेतनाका समास 'सवेदन-चेतने' होता है। ये दोनो आदिमे जिनके हो वे 'सवेदनचेतनादि' कहलाते है। ऐसे सवेदन-चेतनादिगुणोंसे उपयुक्त आत्माको ध्याता कहते है।

प्रश्न—ऐसा आत्म-स्वरूपका ध्याता पुरुष कैसा होता है ?

उत्तर—'वीयराओ हवइ' वीतराग होता है। वीत अर्थात् विनष्ट हो गया है मिथ्यात्व आदि राग जिसमेसे वह वीतराग होता है।

प्रश्न—पुन. वह कैसा होता है ?

उत्तर—'निर्मलरत्नत्रय होता है। कर्मरूप मल जिसमेसे निकल गया है, उसे निर्मल कहते है। निर्मल रत्नत्रय जिसका होता है वह निर्मलरत्नत्रय होता है।

ऐसा जानकर भव्यजनोको अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेयबुद्धिसे चिन्तन करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥४४॥

अव निश्चयरत्नत्रयका सम्पूर्ण स्वरूप दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो (जोई) योगी (सचेयण) सचेतन और (सुद्धभावट्ठ) शुद्ध भावमे स्थित

टीका—दंसण-णाण-चरित्तमित्यादि, दर्शन-ज्ञान-चरित्रं योगी तस्येह भणति यो ध्यायत्यात्मान सचेतन शुद्धभावस्थम्। तथाहि—योऽसौ पूर्वोक्त स्वसवेदनज्ञानी कर्त्ता स्वात्मान वेत्ति जानाति। कथम्? शुद्ध-बुद्धैकचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुभवचारुस्वभावेनानुभवति। कथम्भूतमात्मानम्? निरञ्जनं शुद्धोपयोगस्वरूपोत्पन्नया चेतनया सह वर्त्तते सचेतनस्तं सचेतनम्। पुनश्च कथम्भूतम्? शुद्धभावस्थम्—शुद्धनिश्चयेन मिथ्यात्व-रागादिदोषरहितत्वाच्छुद्धः। 'भू सत्ताया' भवतीति भावः। शुद्धश्चासौ भावश्च शुद्धभाव, तस्मिन् शुद्धभावे तिष्ठतीति शुद्धभावस्थस्तं शुद्धभावस्थम्। य किलैवविधमात्मानं भावयत्याराधयति तस्यैव ज्ञानिनो निश्चितं दर्शन-ज्ञान-चारित्रं भवति, इह जगति वाऽस्मिन् कलिकाले। कोऽसौ भणति? योगी परमयोगी-

---

(अप्पाण) आत्माको (झायइ) ध्याता है (तस्स) उसको (इह) इस लोकमे (णिच्छय) निश्चय (दसण-णाण-चरित्त) दर्शन ज्ञान चारित्र (भणइ) कहते है।

टीकार्थ—'दसणणाणचरित्त' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है—जो वह पूर्वोक्त स्वसवेदनज्ञानी ध्यानकर्ता अपने आत्माको जानता है।

प्रश्न—कैसा जानता है?

उत्तर—शुद्धबुद्धैकचिच्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सुन्दर स्वभावसे आत्माका अनुभव करता है। अर्थात् अपनेको शुद्धरत्नत्रयात्मक जानता है।

प्रश्न—पुन कैसे आत्माको जानता है?

उत्तर—निरजन और सचेतन आत्माको जानता है। कर्मरूप अजनसे रहित आत्माको निरजन कहते है और शुद्धोपयोगरूप स्वरूपसे उत्पन्न चेतनाके साथ जो रहता है, उसे सचेतन कहते हैं।

प्रश्न—पुन कैसे आत्माको जानता है?

उत्तर—शुद्धभावस्थ आत्माको जानता है। शुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व और रागादि दोषोंसे रहित आत्माको शुद्ध कहते हैं। 'भू' धातु सत्ताके अर्थमे प्रयुक्त होती है। जो सत् रूप होता है, उसे भाव कहते है। शुद्धरूप भावको शुद्ध भाव कहते हैं। उस शुद्ध भावमे जो रहता है, उसे शुद्धभावस्थ कहते है।

जो कोई इस प्रकारके आत्माको भावना करता है, आराधना करता है, उसी ज्ञानीपुरुषके निश्चित दर्शन ज्ञान चारित्र होता है।

प्रश्न—कहाँपर रहनेवालेको होता है?

उत्तर—इस जगत्मे, अथवा इस कलिकालमे रहनेवालेको होता है।

प्रश्न—ऐसा किसने कहा है?

उत्तर—योगी, परमयोगीश्वर या सर्वज्ञ देवने कहा है, क्योंकि पुरुषकी प्रमाणतासे वचनमे प्रमाणता होती है।

श्वरो वा सर्वज्ञ इति पुरुषप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यं भवतीति ज्ञात्वाऽऽसन्नभव्येन मोक्षार्थिना रुचिपूर्वक स्वशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति भावार्थं ॥४५॥

इति तत्त्वसारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेवविरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूत-भव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गभावनाफलवर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ॥४॥



ऐसा जानकर निकट भव्य मोक्षाभिलाषी पुरुषको रुचिपूर्वक अपनी शुद्ध आत्मामे भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४५॥

इस प्रकार अति निकट भव्यजनोको आनन्दकारक, भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति-विरचित, कायस्थ-माथुरान्वय-शिरोमणिभूत, भव्यवरपुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विकसित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमे भेदाभेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गकी भावनाका फल-वर्णन करनेवाला चौथा पर्व समाप्त हुआ ॥४॥



पञ्चमं पर्व

रत्नत्रयात्मकसुनिर्मलमोक्षमार्गे ससारसागरसमुत्तरणैकपोते ।
तेऽमर्त्यसिंह स्वतरूद्भवमुक्तिलिप्सो गन्तुं समुद्यतमतिं कुरु पापभीरो ॥

(इत्याशीर्वाद)

अथ भावश्रुतमन्तरेण बाह्यध्यानस्थितोऽप्यात्मानं न जानातीति दर्शयति—

मूलगाथा—झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सवेइ णियय-अप्पाण ।
तो ण लहइ त सुद्ध भग्गविहीणो जहा रयण ॥४६॥

संस्कृतच्छाया—ध्यानस्थितो हि योगी यदि नो संवेत्ति निजकात्मानम् ।
तु न लभते त शुद्धं भाग्यविहीनो यथा रत्नम् ॥४६॥

टीका—'झाणट्ठिओ' इत्यादि । तथाहि—ध्यानस्थित खलु यदि चेद्योगी ध्याता पुरुषो ध्यानस्थित सामान्यध्याने स्थित ध्यानस्थितोऽपि सन् निजात्माऽयं परत्माऽयं चेति न जानाति स तमेव शुद्धात्मानं तदा ध्यानकालेऽपि न लभते, न प्राप्नोति । किं क इव ? यथा भाग्येन हीनो

हे पापभीरु, अमरसिंह ! यदि तुम आत्म-वृक्षसे उत्पन्न होनेवाले मुक्तिरूपी फलको पानेके इच्छुक हो तो ससार-सागरसे पार उतारनेवाले अद्वितीय पोतरूप रत्नत्रयात्मक अतिनिर्मल इस मोक्षमार्गमे गमन करनेके लिए अपनी बुद्धिको उद्यत करो ॥१॥

(इति आशीर्वादः)

आगैं शुरू ही कू कहैं है—

भा० व०—प्रगट जोगी जे है ते ध्यानविषैं तिष्ठे हू जो निज आत्मा कू नाही जानैं है तो तिह शुद्ध आत्माकू नाही प्राप्त हो है । कौनकी नाईं ? भाग्यहीन जैसे रतनकौं नाही प्राप्त होय, तैसैं ॥४६॥

अब भावश्रुतके विना बाह्य ध्यानमे स्थित भी पुरुष आत्माको नही जानता है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणट्ठिओ) ध्यानमे स्थित (जोई) योगी (जइ) यदि (हु) निश्चयसे (णियय-अप्पाण) अपने आत्माको (णो) नही (सवेइ) अनुभव करता है (तो) तो वह (त) उस (सुद्ध) शुद्ध आत्माको (ण) नही (लहइ) प्राप्त कर पाता है । (जहा) जैसे (भग्गविहीणो) भाग्यहीन मनुष्य (रयण) रत्नको नही प्राप्त कर पाता है ।

टीकार्थ—'झाणट्ठिओ हु जोई' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं—सामान्यरूपसे ध्यानमे स्थित होता हुआ भी यदि कोई ध्याता योगी 'यह निज आत्मा है, और यह पर आत्मा है' ऐसा नही जानता है तो वह उस ध्यान-कालमे भी अपने उस शुद्ध आत्माको नही प्राप्त कर पाता है ।

पञ्चमं पर्व

रत्नत्रयात्मकसुनिर्मलमोक्षमार्गे संसारसागरसमुत्तरणैकपोते।
तेऽमर्त्यसिंह स्वतरूद्भवमुक्तिलिप्सो गन्तुं समुद्यतमतिं कुरु पापभीरो ॥

(इत्याशीर्वाद)

अथ भावश्रुतमन्तरेण बाह्यध्यानस्थितोऽप्यात्मानं न जानातीति दर्शयति—

मूलगाथा—झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो संवेइ णियय-अप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥४६॥

संस्कृतच्छाया—ध्यानस्थितो हि योगी यदि नो संवेत्ति निजकात्मानम्।
तु न लभते तं शुद्धं भाग्यविहीनो यथा रत्नम् ॥४६॥

टीका—'झाणट्ठिओ' इत्यादि। तथाहि—ध्यानस्थितः खलु यदि चेद्योगी ध्याता पुरुषो ध्यानस्थितः सामान्यध्याने स्थितः ध्यानस्थितोऽपि सन् निजात्माऽयं परत्माऽयं चेति न जानाति स तमेव शुद्धात्मानं तदा ध्यानकालेऽपि न लभते, न प्राप्नोति। किं क इव ? यथा भाग्येन हीनो

हे पापभीरु, अमरसिंह ! यदि तुम आत्म-वृक्षसे उत्पन्न होनेवाले मुक्तिरूपी फलको पानेके इच्छुक हो तो संसार-सागरसे पार उतारनेवाले अद्वितीय पोतरूप रत्नत्रयात्मक अतिनिर्मल इस मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिए अपनी बुद्धिको उद्यत करो ॥१॥

(इति आशीर्वादः)

आगैं शुरू ही कू कहैं हैं—

भा० व०—प्रगट जोगी जे है ते ध्यानविषैं तिष्ठे हू जो निज आत्मा कू नाही जानै है तो तिह शुद्ध आत्माकू नाही प्राप्त हो है। कौनकी नाईं ? भाग्यहीन जैसे रतनकौं नाही प्राप्त होय, तैसें ॥४६॥

अब भावश्रुतके बिना बाह्य ध्यानमें स्थित भी पुरुष आत्माको नहीं जानता है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणट्ठिओ) ध्यानमें स्थित (जोई) योगी (जइ) यदि (हु) निश्चयसे (णियय-अप्पाणं) अपने आत्माको (णो) नहीं (संवेइ) अनुभव करता है (तो) तो वह (तं) उस (सुद्धं) शुद्ध आत्माको (ण) नहीं (लहइ) प्राप्त कर पाता है। (जहा) जैसे (भग्गविहीणो) भाग्यहीन मनुष्य (रयणं) रत्नको नहीं प्राप्त कर पाता है।

टीकार्थ—'झाणट्ठिओ हु जोई' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं—सामान्यरूपसे ध्यानमें स्थित होता हुआ भी यदि कोई ध्याता योगी 'यह निज आत्मा है, और यह पर आत्मा है' ऐसा नहीं जानता है तो वह उस ध्यान-कालमें भी अपने उस शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर पाता है।

टीका—'मुक्खो' इत्यादि । तथाहि-मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सया देहो' देहः शरीरं कथम्भूतः ? मूर्खो जडस्वरूपः, स्व-पर-प्रकाशकातीन्द्रियनिर्विकारसकलविमलकेवलज्ञानाभावात् । पुनश्च किंविशिष्टो देह ? कर्म-कर्मफल-ज्ञानचेतनाभेदात् त्रिविधचेतनया परि समन्तात् परिवर्जितश्चेतनापरिवर्जित, सदा सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया सर्वदैवैक-जडतारूप । तद्वक्त्रस्य (?) कीदृग् लक्षणं भवति ? 'तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो' तस्यैव तस्मिन् वा पूर्वोक्ते देहे ममतां तन्मयता कुर्वन् जीव. कथम्भूतो भवति ? स्वशुद्धात्मानुभूत्यभावोपार्जितज्ञानावरणादिकर्मोदयात् स एव जीवो बहिरात्मा निजात्मतत्त्वाद् बहिर्विषये आत्मा चित्तं यस्य स एव बहिरात्मा भवति । आत्मशब्दोऽत्र दशार्थेषु प्रवर्तते । तथा चोक्तम्—

आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणाया कलेवरे ।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशन-समीरयोः ॥२४॥

इति ज्ञात्वा अन्तरात्म-परमात्मनोर्विपरीतो बहिरात्मा त्याज्यो भवति भव्यजनैरिति भावार्थ ॥४८॥

(चेयणपरिवज्जिओ) चेतनासे रहित है, जो (तस्स) उसकी (ममत्ति) ममता (कुणतो) करता है (सो) वह (वहिरप्पा) बहिरात्मा (होइ) है ।

टीकार्थ—'मुक्खो विणासरूवो' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है—यह देह-शरीर कैसा है ? मूर्ख है—जडस्वरूप है, क्योकि इसमे स्व-पर-प्रकाशक अतीन्द्रिय निर्विकार सकल विमलस्वरूपवाले केवलज्ञानका अभाव है ।

प्रश्न—पुन यह देह कैसा है ?

उत्तर—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतनाके भेदसे तीन प्रकारकी चेतनासे सर्वथा रहित है, अत चेतनापरिवर्जित है ।

और यह देह सदा अर्थात् सभी कालमे भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी अपेक्षा सर्वदा ही एकमात्र जडतास्वरूप वाला है ।

प्रश्न—ऐसे देहसे ममता करनेवालेका क्या लक्षण है ?

उत्तर—'तस्स ममत्ति कुणतो वहिरप्पा होइ सो जीवो' अर्थात् उस पूर्वोक्त स्वरूपवाले देहका, या उस देहसे ममता-तन्मयता करनेवाला जीव कैसा होता है ? वहिरात्मा होता है । अर्थात् अपने शुद्ध आत्माकी अनुभूतिके अभावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मोके उदयसे वही जीव वहिरात्मा होता है । निज आत्मतत्त्वसे वाहिरी विपयमे जिसका आत्मा अर्थात् चित्त सलग्न हो, वह वहिरात्मा कहलाता है ।

यहा शब्दकोपमे 'आत्मा' यह शब्द दश अर्थोमे प्रवृत्त होता है । जैसा कि कहा है—

चित्त (मन), धृति (धैर्य), यत्न, धिपणा (वुद्धि), कलेवर (शरीर), परमात्मा, जीव, अर्क (सूर्य), हुताशन (अग्नि) और समीर (वायु) इन दश अर्थोमे 'आत्मा' शब्द प्रयुक्त होता है ॥२४॥

ऐसा जानकर अन्तरात्मा और परमात्मासे विपरीत स्वभाववाला जो वहिरात्मा है, वह भव्यजनोको त्यागनेके योग्य है । यह इस गाथाका भावार्य है ॥४८॥

अथ स्वस्यापरस्यापि देहस्य च जरा-रोग-मरणादिकं यो दृष्ट्वाऽदेहात्मन्यात्मनि लीनो भवति सोऽदेही भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—रोय सडण पडण देहस्स य पिक्खिऊण जर-मरणं ।
जो अप्पाण झायदि सो मुच्चइ पचदेहेहिं ॥४९॥

संस्कृतच्छाया—रोगं शातन पतन देहस्य च दृष्ट्वा जरा-मरणम् ।
य आत्मान ध्यायति स मुच्यते पञ्चदेहै ॥४९॥

टीका—'रोय' इत्यादि, 'रोय सडण पडणं देहस्स य पिक्खिऊण जर-मरण' यो यः कश्चित्तत्त्वज्ञो भव्यात्मा दृष्ट्वाऽवलोक्य । किं दृष्ट्वा ? रोग शातन 'शद्लृ शातने' शीर्यत शातनम्, 'पत्लृ पतने' पत्यते पतनम्, कस्य कस्मिन् वा ? देहस्य । तथाऽन्यदपि दृष्ट्वा जरा-मरणम्, 'जरा जुवजो हानौ' जीर्यते जरा, म्रियते मरणम् । जरा च मरण च जरा-मरणम् । द्वन्द्वैकत्वमित्येकत्वम् । पश्चात् किं करोति यः ? 'अप्पाणं झायदि' स्वशुद्धात्मान चिच्चमत्कारमात्रं आत्मान ध्यायति स्मरति नित्यमाराधयतीति । स कथम्भूतो भवति ? 'सो मुच्चइ पचदेहेहिं' स एवान्तरात्मा मुच्यते त्यज्यते । कै ? कर्तृभूते. पञ्चदेहै । औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मण-रूपाणि शरीराणि देहा उच्यन्ते । पञ्चैव देहा पञ्चदेहाः, तैः पञ्चदेहै । तदभावान्मिथ्यात्व-

---

आगैं फेरि कहै है—

भा० व०—जो देहकै सिडना पीडा, पतन पडना जो जरापणा मरणदशा प्राण-रहित होणा देखकरि, अर आत्मा जो शु चिदानन्दकू ध्यावै है सो मुनि पच देह जो औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्माण एह जे पाच शरीरनिकरि रहित होय है ॥४९॥

अब अपने और परके भी देहके जरा, रोग और मरण आदिको देखकर जो पुरुष अदेहात्मक अर्थात् जडरूपतादिसे रहित अपने आत्मामे लीन होता है, वह अदेही अर्थात् शरीर-रहित सिद्ध हो जाता है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहस्स य) देहके (रोय) रोग (सडण) सटन और (पडण) पतनको तथा (जर-मरण) जरा और मरणको (पिक्खिऊण) देखकर (जो) जो भव्य (अप्पाण) आत्माको (झायदि) ध्याता है (स) वह (पच देहेहिं) पाच प्रकारके शरीरोंसे (मुच्चइ) मुक्त हो जाता है ।

टीकार्थ—'रोय सडण पडण' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जो कोई तत्त्वज्ञ भव्यात्मा शरीरके रोगको, सटन अर्थात् सडन-गलनको और पतन अवस्थाको, तथा जरा और मरणको देखकर 'अप्पाण झायदि' अर्थात् अपने आत्माका ध्यान करता है—अपने शुद्ध, चिच्चमत्कारमात्र आत्माका स्मरण करता है, उसकी नित्य आराधना करता है ।

प्रश्न—वह कैसा हो जाता है ।

उत्तर—'सो मुच्चइ पच देहेहिं' अर्थात् वही अन्तरात्मा मुक्त हो जाता है ।

प्रश्न—किनसे मुक्त हो जाता है ?

उत्तर—ससार-परिभ्रमणके करनेवाले पाच प्रकारके शरीरोसे मुक्त हो जाता है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पाच शरीरोको देह कहते हैं ।

रागाद्यज्ञानभावोपार्जितकर्मजनितमूर्तत्व-जडत्वरूपपञ्चदेहाद् विलक्षणाशरीरामूर्तानन्तज्ञानाद्यनन्त-गुणात्मकरूपः सिद्धोऽशरीरी भवतीति ज्ञात्वा ज्ञान-वैराग्येन भाव्यं भवितव्यं भव्यजीवैरिति भावः ॥४९॥

अथ ज्ञान-वैराग्यभावनां नाटयति—

मूलगाथा—जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणिय तवसा ।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥५०॥

संस्कृतच्छाया—यद्भवति भोक्तव्यं कर्मोदयस्य आनीय तपसा ।
स्वयमागतं च तद् यदि स लाभो नास्ति सन्देहः ॥५०॥

टीका—'जं होइ' इत्यादि, 'जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणिय तवसा' द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मातीतातीन्द्रियानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणमयमूर्तिभरात्मनो विलक्षणं यत्कर्म मोक्षसुखा-भिलाषिणा मया बाह्याभ्यन्तरद्वादशविधतपसोदयमानीय भोक्तव्यं भवति, तत्कथम्भूतम् ? 'सय-

---

आगै कहैं है—जो कर्म उदयमे तपकरि लाइए है सो स्वयमेव उदय आया सो बडा लाभ है—

भा० व०—जो कर्म तपकरि उदयमे ल्यायकरि भोगना था सो कर्म जो स्वयमेव उदयमे आया सो बडा लाभ जानना, संदेह नाही । भोगना जोग्य है ॥५०॥

'शद्-लृ' धातुका अर्थ सडना गलना है । 'पत्लृ' धातुका अर्थ गिरता हे । 'जरा' का अर्थ जीर्ण होना है । शरीरमे सडन-गलन, पतन और जीर्ण दशा प्रत्यक्ष दिखाई देती है । जब कोई भव्य जीव मिथ्यात्व, रागादिभाव और अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मोसे उत्पन्न हुए इन मूर्तत्व, जडत्वरूपसे पंचदेहसे भिन्न अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है, तब वह उक्त पंचदेहसे विलक्षण अशरीरी, अमूर्त्त, अनन्तज्ञानादि रूप अनन्त गुणोसे युक्त अशरीरी सिद्ध हो जाता है । ऐसा जान-कर भव्य जीवोको ज्ञान-वैराग्यके साथ आत्माकी भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४९॥

अब सूत्रकार देवसेनाचार्य ज्ञान और वैराग्यभावनाका लाभ बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जं) जो (कम्मं) कर्म (तवसा) तपके द्वारा (उदयस्स) उदयमे (आणिय) लाकर (भुंजियव्वं) भोगनेके योग्य (होइ) होता है, (तं) वह (जइ) यदि (सयं) स्वयं (आगयं) उदयमे आ गया है (सो) वह (लाहो) बडा भारी लाभ है । इसमे कोई (संदेहो) सन्देह (णत्थि) नहीं है ।

टीकार्थ—'जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणिय तवसा' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित अतीन्द्रिय, अनन्तज्ञानादिरूप अनन्त गुणमयी मूर्त्तिवाले आत्मासे विलक्षण जो कर्म है वह मोक्षसुखाभिलाषी मुझे बाह्य और आभ्यन्तर बारह प्रकारके तप-द्वारा उदयमे लाकर भोगनेके योग्य हैं ।

प्रश्न—फिर वह कर्म कैसा है ?

उत्तर—'सयमागयं च तं जइ' अर्थात् यदि वह कर्म तत्त्वके ज्ञानकार मेरे स्वयं उदयमे आ गया है ।

मागय च त जइ' यदि चेत्तत्पूर्वोक्तमेव कर्म स्वयमुदयमागत मम ज्ञाततत्त्वस्य। तदा किमभूत्? सो लाहो णत्थि संदेहो' स एवापूर्वो लाभ', सन्देहो भ्रान्तिर्वा नास्ति। कस्मात्? परम्परया परमात्मतत्त्वोपलब्धिभाक्। ततः पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मण्युदयागते समभावेन भाव्य भव्यजीवेनेति भावार्थ ॥५०॥

अथ पुनरपि शुभाशुभकर्मणा फलमुपभुञ्जानः सन् यो रागद्वेषं न करोति सोऽभिनवकर्माणि न बध्नातीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य परमाराध्याचार्यश्रीदेवसेनदेवाः सूत्रमिद प्रतिपादयन्ति—

मूलगाथा—भु जतो कम्मफल कुणइ ण राय तह य दोस च।
सो सचिय विणासइ अहिणवकम्मं ण बधेइ ॥५१॥

सस्कृतच्छाया—भुञ्जानः कर्मफलं करोति न राग तथैव द्वेष च।
स सञ्चितं विनाशयत्यभिनवं कर्म न बध्नाति ॥५१॥

टीका—'भु जंतो कम्मफल' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण व्याख्यानं क्रियते—'भुजतो कम्मफल कुणइ ण राय तह य दोसं च' यः कश्चित् स्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मस्वभाव-

---

आगै कहै हैं—उदयमे आया जो कर्मकू भोगता राग द्वेष नाही करै है, ताकैं पूर्व-सचित तौ कर्म नष्ट होय है, अर नवीन कर्म नाही बधै है—

भा० व०—कर्मफलकू भोगता राग नाही करै है, तैसैं ही द्वेष हू नाही करै है, सो मुनि सचय कीया पूर्व कर्मकू विनाश करै है, अर नवीन कर्मकू नाही बाधै है। भावार्थ=साता वेदनीय कर्मका उदयकरि प्राप्त भया सुख ताविषैं रागी नाही होय है, अर असाता कर्मका उदयकरि प्राप्त भया दु खकू भोगता दु ख नाही मानै है। ते ही वीतरागी मुनि चिरकाल सचित कर्मकू तो नाश करैं है, अर रागरूप चिक्कणासके अभावतैं नवीन बध नाही करै है। सिद्धान्त ऐसा है रागी कर्मनिकू बाधै है, वीतरागी कर्मनितैं छूटै है। यो ही जिनेन्द्रका मतका सक्षेप जानना बध-मोक्षका ॥५१॥

प्रश्न—तो क्या हुआ ?

उत्तर—'सो लाहो णत्थि सदेहो' अर्थात् वही मेरे अपूर्व लाभ हुआ है, ऐसा जानना चाहिए, इसमे कोई सन्देह या भ्रान्ति नही है। क्योकि ऐसे विचारसे आत्मा परम्परया परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिवाला होता है।

इसलिए पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मका उदय आनेपर भव्यजीवको समभाववाला होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५०॥

अव फिर भी शुभ-अशुभ कर्मोके फलको भोगता हुआ जो पुरुष राग-द्वेष नही करता है, वह नवीन कर्मोको नही बाधता है, यह अभिप्राय मनमे धारणकर परम आराध्य आचार्यश्रीदेवसेनदेव यह वक्ष्यमाण सूत्र प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—जो भव्य जीव (कम्मफल) कर्मोके फलको (भुजतो) भोगता हुआ (ण राय) न रागको (तह य) और (दोस च) न द्वेषको (कुणइ) करता है (सो) वह (सचिय) पूर्व सचित कर्मको (विणासइ) विनष्ट करता है और (अहिणवकम्म) नवीन कर्मको (ण बधेइ) नही बाधता है।

टीकार्थ—'भुजतो कम्मफल' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—जो कोई स्वसवेदन ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मस्वभावकी भावनासे रहित होकर रागादि विषय-कषायसे सहित

भावनारहितेन मिथ्यात्व-रागादिविषय-कषायसहितेन जीवेन पुरा स्वयमुपार्जितशुभाशुभकर्मफलं भुञ्जानः सन् रागं न करोति, केवलं रागं न करोति किमु तथैव द्वेषं न करोति। स किं करोति ? 'सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ' स एव ध्याताऽऽत्माराधकः पूर्वसञ्चित पूर्वोपार्जित-ज्ञानावरणादिकर्म उदयागतमनुदयागतं वा कर्म विनाशयति निर्जरयति। न केवलं सञ्चितं विनाशयति, अपि त्वभिनवं अभि समन्तान्नवीनमभिनवमपि कर्म नैव बध्नाति, जलानलवत्, तम प्रकाशवद्वा ज्ञानाज्ञानयोरन्योन्यविरोधादिति ज्ञानमाहात्म्य ज्ञात्वा तदेव स्वसंवेदनज्ञान-मुपादेयमिति भावार्थः ॥५१॥

अथ स एव पूर्वोक्तध्याता यदि कर्मफल भुञ्जानोऽशुद्धं भावं करोति तदा कर्मणा कर्ता भवतीति दर्शयति—

मूलगाथा—भुंजतो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहमसुहं।
जइ तो पुणो वि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं ॥५२॥

संस्कृतच्छाया—भुञ्जानः कर्मफलं भावं मोहेन करोति शुभमशुभम्।
यदि तदा पुनरपि बध्नाति ज्ञानावरणाद्यष्टविधम् ॥५२॥

आगैं कर्मका फल भोगता मोहकरि सुख-दुःखभाव करै है सो आठ प्रकार ज्ञानावरणादिक कर्मबंध करै है, ऐसैं कहै है—

भा० व०—कर्म-फल कू जो भोगता मोहकर्म करि शुभ-अशुभ भावकू करै है सो बहुरि ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार कर्म बंधकू बांधै है ॥५२॥

होकर जीवके द्वारा पूर्वकालमे स्वयं उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके फलको भोगता हुआ रागको नही करता है, केवल रागको ही नही करता, किन्तु उसी प्रकार द्वेषको भी नही करता है।

प्रश्न—वह क्या करता है ?

उत्तर—'सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ' अर्थात् वही आत्माका आराधक ध्यान करनेवाला पुरुष पूर्वसंचित अर्थात् पूर्वकालमे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मको—वे चाहे उदय-मे आ रहे हो, अथवा उदयमे नही आ रहे हो, विनष्ट करता है, उसकी निर्जरा करता है। वह न केवल संचित कर्मको ही नष्ट करता है, अपि तु सर्व ओरसे आनेवाले नवीन कर्मको भी नही बांधता है, क्योकि जल और अग्निके समान, अथवा अन्धकार और प्रकाशके समान ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है। इस प्रकार ज्ञानका माहात्म्य जानकर भव्यजीवोको वही स्वसंवेदन ज्ञान उपादेय है, अतः उसीकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५१॥

अब यदि वही पूर्वोक्त ध्याता पुरुष कर्म-फलको भोगते हुए अशुद्ध भाव अर्थात् राग द्वेष करता है तो वह कर्मोंका कर्ता होता है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(कम्मफलं) कर्मोंके फलको (भुंजतो) भोगता हुआ अज्ञानी पुरुष (जइ) यदि (मोहेण) मोहसे (सुहमसुहं) शुभ और अशुभ (भावं) भावको (कुणइ) करता है, (तो) तब (पुणो वि) फिर भी वह (णाणावरणादि) ज्ञानावरणादि (अट्ठविहं) आठ प्रकारके कर्मको (बंधइ) बांधता है।

टीका—तथाहि-'भु जतो' इत्यादि, यदि चेत् स एव योगी ध्याता पुरार्जितशुभाशुभ-विपाकाश्रितकर्मफलं भुञ्जानः सन् निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वाद्विलक्षणेन मोहेन शुभं शुभोपयोगरूप अशुभमशुभोपयोगरूपं वा भाव परिणाम करोति, 'तो पुणो वि बंधइ' तदा पुनरपि बध्नाति। किं तत् ? 'णाणावरणावि अट्ठविह' मतिज्ञानादिपंचप्रकार ज्ञानामावृणोतीति ज्ञानवरणमादि-र्यस्य तज्ज्ञानावरणादि। पुनः किं विशिष्टमष्टविधमष्टप्रकारं कर्म सञ्चिनुते निर्मोहशुद्धबुद्धैक-स्वभावपरमात्मनो विपरीतान्मोहोदयादिति मत्वा स एव मोहस्त्याज्यो भवतीति भावार्थः ॥५२॥

अथ यावद्योगी सूक्ष्ममपि राग न मुञ्चति तावन्मुक्तो न भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—परमाणुमित्तराय जाम ण छडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ॥५३॥

संस्कृतच्छाया—परमाणुमात्र राग यावन्न मुञ्चति योगी स्वमनसि।
स कर्मणा न मुच्यते परमार्थविज्ञायकः श्रमण. ॥५३॥

आगें कहैं है—जितने परमाणूमात्र भी राग है तितने कर्मनिकरि नाही छूटै है—

भा० व०—योगीजननें स्व-मन विषैं परमाणुमात्र राग नाही छोड़े हैं सो श्रमण कहिए मुनि कर्मनिकरि नाही छूटै है। कैसा मुनि ? परमार्थका जाननेवाला। भावार्थ-जितने काल राग जो वीतराग सर्वज्ञका तत्त्वसू विलक्षण कहिए विपरीत मिथ्यात्वका उदयकरि उपज्या राग परिणामकू नाही त्यजे है। कितनाक राग ? परमाणूमात्र हू। अणु शब्द करि सूक्ष्म जानना,

---

टीकार्थ—'भुजतो कम्मफल' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है—यदि वही ध्यान करनेवाला योगी पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ विपाकके आश्रित कर्मफलको भोगता हुआ मोह-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विलक्षण मोहसे शुभ—शुभोपयोगरूप, अथवा अशुभ—अशुभोपयोगरूप भाव—परिणामको करता है 'तो पुणो वि बधइ' तव वह फिर भी बाधता है।

प्रश्न—किसे बाधता है ?

उत्तर—'णाणावरणादि अट्ठविह' अर्थात् मतिज्ञानादि पाच प्रकारके ज्ञानको जो आवृत या आच्छादित करता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है। ऐसा ज्ञानावरण है आदिमे जिसके ऐसे आठ प्रकारके कर्मको बाधता है अर्थात् नवीन कर्मोका सचय करता है।

प्रश्न—किसके निमित्तसे बाधता है ?

उत्तर—मोह-रहित शुद्ध-बुद्धैक स्वभाववाले परमात्मासे विपरीत मोहके उदयसे बाधता है, ऐसा जानकर वह मोह ही त्यागनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५२॥

अब जबतक योगी सूक्ष्म भी रागको नही छोडता है तब तक वह कर्मोसे मुक्त नही होता है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (जोइ) योगी (समणम्मि) अपने मनमेसे (परिमाणुमित्तराय) परमाणुमात्र भी रागको (ण छडेइ) नही छोडता है, तबतक (परमट्ठवियाणओ) परमार्थका ज्ञायक भी (स समणो) वह श्रमण (कम्मेण) कर्मसे (ण मुच्चइ) नही छूटता है।

टीका—'परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण मुनिना वृत्तिकारेण व्याख्यानं क्रियते--यावत्काल रागं वीतरागसर्वज्ञतत्त्वविलक्षणमिथ्यात्वोदयजनित रागपरिणाम न त्यजति न मुञ्चति। कियन्त रागम् ? परमाणुमात्रमपि, अणुशब्देन सूक्ष्मत्वमुच्यते, मात्रशब्देन प्रमाणं च, अणुरेव मात्रा यस्य स अणुमात्र, परमश्चासावणुमात्ररागश्च परमाणुमात्ररागस्तं परमाणुमात्ररागम्। कोऽसौ न मुञ्चति ? 'जोई' योगी ध्यानी ध्याता। क्व ? 'समणम्मि' स्वमनसि स्वचित्ते। सो कम्मेण ण मुच्चइ, स एव योगी पूर्वोपार्जितकर्मभिर्न मुच्यते न त्यज्यते। स कथम्भूतः सन् ? 'परमट्ठवियाणओ समणो' स श्रमणो यति परमार्थविज्ञायकः, अर्थशब्देनार्थाः पदार्था. कथ्यन्ते, परोत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्यस्यासौ परमः, परमश्चासावर्थश्च परमार्थः। अथवा परमार्थो वस्तुस्वरूपं त परमार्थ विशेषेण जानातीति परमार्थविज्ञायकोऽपि रागी चेत्तदा मोक्षं

मात्र शब्दकरि परमाणु अणु ही है प्रमाण जाका, सो अणुमात्र जानना। परम इसो जो अणुमात्र राग सो परमाणु मात्र राग जानना। कौन नाही छाडै है ? योगी ध्यानी ध्याता। कुठै ? स्व कहिए अपने मनविषै। सो योगी पूर्वोपार्जितकर्मनिकरि नाही छूटिए है। कैसा भया सता ? सो श्रमण जो यति मुनि परमार्थका जाननेवाला। अर्थ शब्दकरि अर्थ जे पदार्थ कहिए है। परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मी है जाकें, सो परम कहिए। परम ऐसा जो अर्थ सो परमार्थ कहिए। अथवा परमार्थ वस्तुस्वरूप, परमार्थ विशेषपणाकरि जानै सो परमार्थ-विज्ञायक हू जाननेवाला हू ॥५३॥

टीकार्थ—'परमाणुमित्तराय जाम ण छंडेइ' इत्यादि गाथाके अर्थका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते है—जितने कालतक वीतराग सर्वज्ञ-प्रणीत तत्त्वसे विपरीत मिथ्यात्वके उदय-जनित राग-परिणामको नही त्यागता है, नही छोडता है।

प्रश्न—कितने रागको नही छोड़ता है ?

उत्तर—परमाणुमात्र भी रागको नही छोडता है। अणुशब्दसे सूक्ष्मता कही गई है और मात्र शब्दसे प्रमाण। अणु ही है मात्रा जिसकी वह अणुमात्र कहलाता है। ऐसे परम अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण भी रागको जो नही छोडता है।

प्रश्न—कौन नही छोडता है ?

उत्तर—'जोई' अर्थात् ध्यान करनेवाला योगी।

प्रश्न—कहा नही छोडता है ?

उत्तर—अपने मनमे नही छोडता है ?

'सो कम्मेण ण मुच्चइ' वह योगी पूर्वोपार्जित कर्मोसे नही छूटता है, नही मुक्त होता है।

प्रश्न—कैसा होता हुआ भी योगी कर्मोसे नही छूटता है ?

उत्तर—'परमट्ठवियाणओ समणो' अर्थात् जो परमार्थका विज्ञायक श्रमण योगी है।

परमार्थ यह शब्द परम और अर्थ इन दो शब्दोंके योगसे बना है। अर्थ शब्दसे जीवादि पदार्थ कहे गये है। 'परा' शब्द उत्कृष्टका वाचक है और 'मा' शब्द लक्ष्मीका वाचक है। ऐसी उत्कृष्ट लक्ष्मी जिसके पाई जावे उसे परम कहते है। ऐसा परम जो अर्थ है वह परमार्थ कहलाता है। अथवा परमार्थ नाम वस्तु-स्वरूपका है। उस परमार्थको जो विशेषरूपसे जानता है, उसे

टीका—तथाहि-'भु जतो' इत्यादि, यदि चेत् स एव योगी ध्याता पुरार्जितशुभाशुभविपाकाश्रितकर्मफलं भुञ्जानः सन् निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वाद्विलक्षणेन मोहेन शुभ शुभोपयोगरूपं अशुभमशुभोपयोगरूपं वा भाव परिणाम करोति, 'तो पुणो वि बधइ' तदा पुनरपि बध्नाति। किं तत् ? 'णाणावरणादि अट्ठविहं' मतिज्ञानादिपचप्रकार ज्ञानामावृणोतीति ज्ञानवरणमादिर्यस्य तज्ज्ञानावरणादि। पुनः किं विशिष्टमष्टविधमष्टप्रकारं कर्म सचिनुते निर्मोहशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो विपरीतान्मोहोदयादिति मत्वा स एव मोहस्त्याज्यो भवतीति भावार्थ. ॥५२॥

अथ यावद्योगी सूक्ष्ममपि राग न मुञ्चति तावन्मुक्तो न भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—परमाणुमित्तराय जाम ण छडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ॥५३॥

संस्कृतच्छाया—परमाणुमात्र रागं यावन्न मुञ्चति योगी स्वमनसि।
स कर्मणा न मुच्यते परमार्थविज्ञायकः श्रमण ॥५३॥

आगें कहै है—जितने परमाणूमात्र भी राग है तितने कर्मनिकरि नाही छूटै है—

भा० व०—योगीजननें स्व-मन विषैं परमाणुमात्र राग नाही छोडै है सो श्रमण कहिए मुनि कर्मनिकरि नाही छूटै है। कैसा मुनि ? परमार्थका जाननेवाला। भावार्थ-जितने काल राग जो वीतराग सर्वज्ञका तत्त्वसू विलक्षण कहिए विपरीत मिथ्यात्वका उदयकरि उपज्या राग परिणामकू नाही त्यजै है। कितनाक राग ? परमाणूमात्र हू। अणु शब्द करि सूक्ष्म जानना,

---

टीकार्थ—'भुजतो कम्मफल' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते है—यदि वही ध्यान करनेवाला योगी पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ विपाकके आश्रित कर्मफलको भोगता हुआ मोह-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विलक्षण मोहसे शुभ—शुभोपयोगरूप, अथवा अशुभ—अशुभोपयोगरूप भाव—परिणामको करता है 'तो पुणो वि बधइ' तब वह फिर भी बाधता है।

प्रश्न—किसे बाधता है ?

उत्तर—'णाणावरणादि अट्ठविह' अर्थात् मतिज्ञानादि पाच प्रकारके ज्ञानको जो आवृत या आच्छादित करता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है। ऐसा ज्ञानावरण है आदिमे जिसके ऐसे आठ प्रकारके कर्मको बाधता है अर्थात् नवीन कर्मोका सचय करता है।

प्रश्न—किसके निमित्तसे बाधता है ?

उत्तर—मोह-रहित शुद्ध-बुद्धैक स्वभाववाले परमात्मासे विपरीत मोहके उदयसे बाधता है, ऐसा जानकर वह मोह ही त्यागनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५२॥

अब जबतक योगी सूक्ष्म भी रागको नही छोडता है तब तक वह कर्मोसे मुक्त नही होता है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (जोई) योगी (समणम्मि) अपने मनमेसे (परिमाणुमित्तराय) परमाणुमात्र भी रागको (ण छडेइ) नही छोडता है, तबतक (परमट्ठवियाणओ) परमार्थका ज्ञायक भी (स समणो) वह श्रमण (कम्मेण) कर्मसे (ण मुच्चइ) नही छूटता है।

न प्राप्नोति यतो रागद्वेषमोहरहितपुरुषविषयत्वात् । इति मत्वा नीरागात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुभूतिबलेन स रागो हेयो भवत्यासन्नभव्यजीवानाम्, नाभव्यानामिति तात्पर्यार्थ ॥५३॥

अथ ज्ञानिनः समसुखदु खस्य कर्मणा निर्जरायाः हेतुस्तप इति प्रतिपादयति—

मूलगाथा— सुहदुक्ख पि सहतो णाणी झाणम्मि होइ दिढचित्तो ।
हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठ इमो भणिओ ॥५४॥

संस्कृतच्छाया—सुखदु खमपि सहमानो ज्ञानी ध्याने भवति दृढचित्तः ।
हेतु कर्मणस्तपो निर्जरार्थमिद भणितम् ॥५४॥

टीका—'सुहदुक्खं' इत्यादि, तद्यथा—पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मणा फल सुखदुःखमपि समताभावनाबलेनानुभूयमानः सन् स एव स्वसवेदनज्ञानी धर्मध्याने शुक्लध्याने च दृढचित्तो भवति यदा, तदा किं भवतीति पृष्टे सत्युत्तरमाह—'हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठ इमो भणिओ' पूर्वोक्तानां ज्ञानावरणादिकर्मणा निर्जरणार्थमिदमेव तपो हेतुर्भणित हेतुर्भूत कारणं बीजमित्यभिधाने भणितमास्ते ।

आगैं कहै है—ज्ञानी सुख-दु खकू सहता हू तपविषै दृढ चित्त होय तब कर्मनिकी निर्जरा होय है—

भा० व०—ज्ञानी सुख-दु खनिकू सहता हू ध्यानविषैं दृढचित्त होय है। इहा तप है सो कर्मकी निर्जराके अर्थि कह्या है। पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मनिकी निर्जरा हेतु तप है ॥५४॥

परमार्थ-विज्ञायक कहते है। ऐसा परमार्थ-विज्ञायक भी रागी यदि योगी हो तो वह भी मोक्षको प्राप्त नही होता है, क्योकि मोक्ष तो रागद्वेष मोहसे रहित पुरुषका विषय है।

ऐसा जानकर वीतराग आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूतिके बलसे वह राग निकट भव्य जीवोको हेय है—त्यागनेके योग्य है, अभव्य जीवोके नही। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५३॥

अब सुख-दु खमे समान रहनेवाले ज्ञानी पुरुषका तप कर्मोंकी निर्जराका कारण होता है, यह प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(सुह-दुक्ख पि) सुख-दु खको भी (सहतो) सहता हुआ (णाणी) ज्ञानी पुरुष जब (झाणम्मि) ध्यानमे (दिढचित्तो) दृढ चित्त (होइ) होता है, तब उसका (तपो) तप (कम्मस्स) कर्मकी (णिज्जरणट्ठ) निर्जराके लिए (हेऊ) हेतु होता है (इमो) ऐसा (भणिओ) कहा गया है।

टीकार्थ—'सुह-दुक्ख पि सहतो' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते है—पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मोके फल सुख-दु खको भी समता-भावनाके वलसे अनुभव करता हुआ वही स्वसवेदन-ज्ञानी जव धर्मध्यान और शुक्लध्यानमे दृढचित्त होता है, तव क्या होता है ? ऐसा पूछने पर सूत्रकार आचार्य उत्तर देते हैं—

'हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ' अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि कर्मोंकी निर्जराके लिए यही तप हेतुभूत कारण या वीज कहा गया है। शब्दकोशमे हेतु, कारण और वीज ये एकार्थ-वाचक कहे गये हैं।

स्त्रीपुन्नपुंसकतिरश्चादिवर्जितस्थाने यत्र स्थीयते यतिनाथवद् भिन्नत्वेन शय्यासनत्वेनापि, तद्विविक्तशय्यासनाख्यं पंचमं बाह्य तपः ५।

वर्षाशीतोष्णकालोद्भवपरीषहोपसर्गाद्यातापनयोगैर्यत्र विलश्यते तत्कायक्लेशाभिधं षष्ठ बाह्यं तप ६। इति षड्विधं बाह्यं तपः।

अथाभ्यन्तरतप कथनमाह–प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानानीति। तथाहि—वर्तमानकालकृतापराधेन जीवेन देवस्याग्रे गुरोरग्रे चालोच्यते निवेद्यते (स्वागः) तदालोचनम् १। अतीतकालापेक्षया कृतदोषनिराकरण प्रतिक्रमणम् २। आलोचन-प्रतिक्रमणाभ्या निराकरणं क्रियते तदुभयम् ३। कृतापराधे सत्यात्मान परं विवेचन पृथक्करणं विवेक ४। शरीरादिपरद्रव्य व्युत्सर्ज्यते त्यज्यते व्युत्सर्ग ५। पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्याभ्यन्तरं तप ६। कृतापराधे सति दिन-पक्ष-मास-वर्षादिभेदेन छिद्यते लघुः क्रियते छेदः ७। कृतापराधस्य परिहरणं परिहारः

स्त्री, पुरुष, नपुसक और तिर्यंच आदिसे रहित एकान्त शान्त स्थानमे मुनिनाथके समान बेठना और सबसे भिन्न सस्तर पर शयन करना सो वह विविक्तशय्यासन नामका पाचवा बाह्य तप है ५।

वर्षाकाल, शीतकाल और उष्णकालमे उत्पन्न होनेवाले परीषह, उपसर्गादि तथा आतापनयोगादिके द्वारा जो शारीरिक कष्ट सहे जाते हैं, उसे कायक्लेश नामका छठा बाह्य तप कहते हैं ६। इस प्रकार ये छह बाह्य तप है।

अब आभ्यन्तर तपोका कथन करते हैं—आभ्यन्तरतप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका है।

इनका विवरण इस प्रकार है—पहिला आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। (अपने किये गये अपराधको स्वीकार कर गुरु-प्रदत्त दण्डको स्वीकार करना प्रायश्चित्त कहलाता है।) वह नौ प्रकारका कहा गया है। वर्तमान काल मे किये गये अपने अपराधको देवके आगे, या गुरुके आगे निवेदन करना आलोचना नामका पहिला प्रायश्चित्त है १। अतीत कालकी अपेक्षा किये हुए दोषोका निराकरण करना प्रतिक्रमण नामका दूसरा प्रायश्चित्त है २। वर्तमान और भूतकालमे किये गये दोषोका आलोचन और प्रतिक्रमणके द्वारा निराकरण करना तदुभयनामका तीसरा प्रायश्चित्त है ३। किसी गुरुतर अपराधके किये जानेपर अपनेको दूसरेसे पृथक् करना विवेक नामका चौथा प्रायश्चित्त है ४। किसी और भी बडे अपराधके होनेपर गुरुके द्वारा जो शरीर आदि परद्रव्यका त्याग कराया जाता है, वह व्युत्सर्ग नामका पाचवा प्रायश्चित्त है ५। अपराध विशेषके होनेपर गुरु-प्रदत्त पूर्वोक्त प्रकारके बाह्य और आभ्यन्तर तपोका यथाविधि पालन करना तपनामका छठा प्रायश्चित्त है ६। किसी महान् अपराधके होनेपर दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदिके भेदसे जो गुरु-द्वारा दीक्षाका छेद कर दिया जाता है और उसको साधु-पर्यायको लघु कर दिया जाता है, वह छेद नामका सातवा प्रायश्चित्त है ७। किसी और भी महान् अपराधके होनेपर सघसे बाहिर कर देना परिहार नामका आठवा प्रायश्चित्त है ८। परिहार या सघ-बहिष्कारसे भी जिनकी शुद्धि न हो सके ऐसे और भी गुरुतर अपराधके होनेपर कुछ दिनो तक सघसे बाहिर रखनेके पश्चात् पूर्व दीक्षाको सर्वथा छेदकर उस साधुको पुन महाव्रतोमे उपस्थित कर नवीन

८। तथैव कृतापराध कश्चिद्यतिरुपस्थाप्यत इत्युपस्थापना ९। इति नवप्रकारप्रायश्चित्तनामाऽभ्यन्तरं तपः १।

सम्यग्दर्शनविनयो ज्ञानविनयश्चारित्रविनयस्तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूना विनय उपचारविनय इति चतुर्विधं विनयाख्यमाभ्यन्तर द्वितीय तपः २।

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानामिति तत्त्वार्थोक्तदशभेदभक्तिपूर्वं वैयावृत्त्य नाम तृतीयमाभ्यन्तरं तपः ३। तथा चोक्त तत्त्वार्थवृत्तिग्रन्थे श्रीपूज्यपाददेवैरिति।

निश्चयेन शुद्ध-बुद्धचिदानन्दस्वरूपात्मतत्त्वे रुचिरूपं दर्शन सवित्तिरूप ज्ञान समनुभवन चारित्रम्। तत्रैव प्रतपन तपः, शक्त्यनवगूहन वीर्यमिति पचाचारान् निश्चय-व्यवहारानाचरन्ति स्वयं परान् शिष्यजनानाचारयन्तीत्याचार्या १। मोक्षार्थशास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्याय २। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी ३। शिक्षाशील शैक्षः ४। रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लान ५। स्थविरसन्ततिर्गण ६। दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्याय कुलम् ७। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवह सघ.। ऋषियतिमुन्यनगारनिवहो मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवहो वा सघ ८। चिरकालप्रव्रजित साधु. ९। मनोज्ञो लोकसम्मत. १०। विभवाविनाशार्थं ताघदनुष्ठानादिभिर्धर्मोपकरणसयमसाधकैः सम्यक् स्थापनं च प्रतिकारो वैयावृत्त्यम्। बाह्यद्रव्याभावे कायेन वा पित्त-श्लेष्माद्यन्तर्म-

---

दीक्षा देना सो उपस्थापना नामका नौवा प्रायश्चित्त है ९। यह नौ प्रकारका प्रायश्चित्त नामका प्रथम आभ्यन्तर तप है १।

मानकषायको छोड़कर विनम्र भावको धारण करना विनय कहलाता है। यह विनय तप चार प्रकारका है—सम्यग्दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तथा इनके आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी विनय करना उपचार विनय, इन चार भेदरूप, विनय नामका दूसरा आभ्यन्तर तप है २।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन तत्त्वार्थ सूत्र-कथित दश प्रकारके साधुओंकी भक्तिपूर्वक सेवा-टहल करना सो वैयावृत्त्य नामका तीसरा आभ्यन्तर तप है ३। जैसा कि श्री पूज्यपाददेवने तत्त्वार्थवृत्ति नामक सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें उनका स्वरूप कहा है, वह यहां कहा जाता है—

लापकर्षणादिस्तदनुकूलानुष्ठानं च वैयावृत्यम्। वैयावृत्यकरणे समाध्याधान-प्रवचनवात्सल्यादि-र्भवति।

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नाय-धर्मोपदेशा इति पंचप्रकारस्वाध्यायरूप चतुर्थमाभ्यन्तरं तपः ४। उक्त च तत्रैव विस्तारेण—निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदान वाचना १। सशयच्छेदाय निश्चितबला-धानाय वा परानुयोग पृच्छना २। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा ३। घोषशुद्ध परिवर्तन-माम्नाय. ४। धर्मकथाद्यनुष्ठान धर्मोपदेश. ५। स एष पञ्चविधः स्वाध्याय. किमर्थ. ? प्रज्ञातिशय प्रशस्ताध्यवसाय' परमसवेगस्तपोवृद्धिरतीचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो' व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्याग। स द्विविध—बाह्योपधित्याग १ अभ्यन्त-रोपधित्यागश्चेति २। अनुपात्त वास्तु-धनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरो-पधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा बाह्याभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते। स किमर्थः? नि सङ्गत्व-निर्भयत्व-जीविताशाव्युदासार्थं। इति व्युत्सर्गाख्यमाभ्यन्तर पञ्चम तपः ५।

और श्राविकाके समुदायको भी सघ कहते हैं ८। चिरकालके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं ९। लोकमे सन्मान-प्राप्त साधुको मनोज्ञ कहते हैं १०।

अपने वैभवके अविनाश या सदुपयोगके लिए धार्मिक अनुष्ठान आदिके द्वारा और साधु-जनोंको धर्मके उपकरण और सयमके साधक पोछी, कमण्डलु और शास्त्र आदि देकर उन्हे सयममे सम्यक् प्रकार स्थापित करना और उनके बीमार होनेपर रोगादिका प्रतीकार करना वैयावृत्य कहलाता है। बाहिरी धनादि द्रव्यके अभावमे शरीरके द्वारा रोगी साधु आदिके शरीरसे पित्त, कफ आदि अन्तर्मलको दूर करना और उनके अनुकूल आचरण करना भी वैयावृत्त्य तप कहलाता है। इस वैयावृत्यके करनेपर साधुके चित्तमे समाधि प्राप्त होती है और वैयावृत्त्य करने-वालेका प्रवचनवात्सल्य आदि प्रकट होता है।

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पाच प्रकारका स्वाध्याय चौथा आभ्यन्तर तप है ४। उसी तत्त्वार्थवृत्ति ग्रथमे इन पाचोका विस्तारसे स्वरूप इस प्रकार कहा है—शास्त्रके निर्दोष ग्रथ, अर्थ और दोनोका प्रदान करना वाचना है १। तत्त्वके विषयमे उत्पन्न हुए सशयके दूर करनेके लिए अथवा अपने जाने हुए विषयके और भी दृढ करनेके लिए गुरुजनोसे प्रश्न करना पृच्छना है २। पढे हुए अर्थका मनसे पुन-पुन अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है ३। शुद्ध उच्चारण करते हुए पाठ-परावर्तन करना आम्नाय है। धार्मिक कथाए आदि कहकर धर्मका उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है।

शका—यह पाच प्रकारका स्वाध्याय किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर—बुद्धिके अतिशयके लिए, प्रशस्त अध्यवसायके लिए, परम सवेगके लिए, तपकी वृद्धिके लिए और अतीचारोकी निवृत्ति आदिके लिए स्वाध्याय तप करना चाहिए।

वाहिरी और भीतरी उपधिके त्यागको व्युत्सर्ग तप कहते हैं। वह दो प्रकारका है—वाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर-उपधित्याग। साधुके द्वारा नही ग्रहण किये गये भवन, धन, धान्या-दिक वाह्य उपधि हैं। क्रोधादि आत्माके विकारी भाव अभ्यन्तर उपधि हैं। इन दोनो प्रकारकी उपधिका त्याग व्युत्सर्ग तप है। अथवा नियत काल तक या जीवनपर्यन्त कायका त्याग करना वाह्य और आभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है।

उत्तमसंहननस्यैकाग्र्यचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् । आदिसंहननत्रितयमुत्तमम् । वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमिति तत्त्रयमपि ध्यानस्य साधनं भवति । मोक्षस्य तु आद्यमेव संहननं प्रोक्तं नान्यद् । इत्येवंविधेन बाह्याभ्यन्तररूपेण तपसा कर्मणा निर्जरा भवतीत्यागमवचनादिति । भो. श्री अमर्त्यसिंह, संसार-शरीर-भोगनिर्विण्ण ! इति मत्वा सर्वज्ञवीतरागदेवोक्तद्वादशविधे तपसि भावना कर्तव्येति तात्पर्यार्थः ॥५४॥

अथ निश्चयसंवर-निर्जरयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्त्यग्रे श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

संस्कृतच्छाया—न मुञ्चति स्वकं भावं न परं परिणमति मनुते आत्मानम् ।
यो जीवः संवरणं निर्जरणं स स्फुटं भणितः ॥५५॥

आगैं निर्जरा संवरका कारण कहै हैं—

भा० व०—जो निर्विकल्प समाधिकूं प्राप्त भया जीव है सो छोडै है, नाहीं त्यजै है। कौनकूं ? भावकूं। कैसा भाव ? स्वकीय आपका भाव। अर पर रागादिक भावकूं नाहीं परणमै है, नाहीं तन्मय होय है। तो कहा करै है ? जानै है। अनुभव करै है। काहे कूं ? आत्मा कूं। आत्मस्वरूप ज्ञानमय संवर होय है, यह अध्याहार करना और मिलाना। सो ही जीव निर्जरा भणित कहिए कही। या प्रकार मानि सो आत्मा शुद्ध निश्चयनयकरि संवर निर्जरामय स्वरूप भावना करना भव्यजननिनैं, या प्रकार अर्थ जानना ॥५५॥

शंका—यह व्युत्सर्ग तप किसलिए किया जाता है ?

उत्तर—निःसंगता, निर्भयता और जीनेकी आशाके निराकरण करनेके लिए किया जाता है।

इस प्रकार यह व्युत्सर्ग नामका पांचवां अभ्यन्तर तप है ५।

उत्तम संहननके धारक साधुका एकाग्र होकर चिन्ताओंका निरोध करना ध्यान कहलाता है। यह चिन्ता-निरोधरूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है। वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराच संहनन ये आदिके तीन संहनन उत्तम कहलाते हैं, क्योंकि ये तीनों ही ध्यानके साधन हैं। किन्तु मोक्षका साधन तो आदिका वज्रवृषभनाराचसंहनन ही कहा गया है, अन्य नहीं ६।

इस प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तररूप तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है, ऐसा आगमका वचन है। ऐसा जानकर संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हे अमरसिंह ! सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा कहे गये बारह प्रकारके तपमें तुम्हें भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका तात्पर्यरूप अर्थ है ॥५४॥

अब आगे श्रीदेवसेनदेव निश्चय संवर और निर्जराका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो जीवो) जो जीव (सगं) अपने (भावं) भावको (ण मुएइ) नहीं छोड़ता है, (परं) और पर पदार्थरूप (ण परिणमइ) परिणत नहीं होता है, किन्तु (अप्पाणं) अपने आत्माका (मुणइ) मनन चिन्तन और अनुभवन करता है, (सो) वह जीव (फुडं) निश्चयनयसे (संवरणं) संवर और (णिज्जरणं) निर्जरारूप (भणिओ) कहा गया है।

टीका—'जो जीवो' त्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यान करोति टीकाकार –'जो' यो निर्विकल्पसमाधिगतो जीवो न मुञ्चति न त्यजति । कम् ? भावम् । कथम्भूतम् ? 'सग' स्वकीय-मात्मीय भावम् । 'ण पर परिणमइ मुणइ अप्पाण' पर रागादिभाव न परिणमति न तन्मयो भवति । तर्हि किं करोति ? मनुते जानात्यनुभवति । कम् ? आत्मानमात्मस्वरूप ज्ञानमयम् । सवरण संवरो भवतीत्यध्याहार क्रियते । 'णिज्जरण सो फुडं भणिओ' निर्जरणं निर्जरा । स एव जीवो निर्जरा भणित स्फुट यथा भवतीति मत्वा स एवात्मा शुद्धनिश्चयेन सवर-निर्जरास्वरूपो भावनीयो भव्यजनैरित्यर्थ ॥५५॥

टीकार्थ—'जो जीवो' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते है—जो निर्विकल्प समाधिमे स्थित जीव नही छोडता है, नही त्याग करता है ।

प्रश्न—किसे नही त्याग करता है ?

उत्तर—भावको नही त्याग करता है ।

प्रश्न—कैसे भावको नही त्यागता है ?

उत्तर—'सगभाव' अर्थात् अपने आत्मीय भावको नही त्यागता है ।

'ण पर परिणमइ, मुणइ अप्पाण' और न पर भावरूपसे परिणत होता है, अर्थात् रागादि-भावरूपसे तन्मय नही होता है ।

प्रश्न—तो फिर क्या करता है ?

उत्तर—मनन करता है, जानता है और अनुभव करता है ।

प्रश्न—किसका अनुभव करता है ?

उत्तर—अपने ज्ञानमयी आत्मस्वरूपका अनुभव करता है ।

वह सवरण अर्थात् सवर है । यहा 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है । 'णिज्जरण सो फुड भणिओ' अर्थात् वही जीव स्पष्टरूपसे निर्जरा कहा गया है ।

ऐसा जानकर भव्यजनोको शुद्ध निश्चयनयसे सवर और निर्जरारूप वही शुद्ध आत्मा भावना करनेके योग्य है ।

भावार्थ—अपने भावको नही छोडनेसे तथा परभावरूपसे परिणमन नही करनेसे कर्मोका आस्रव रुकता है, अत उस समय आत्मा सवररूप है । इसी प्रकार आत्मस्वरूपका अनुभव करनेसे कर्मोकी निर्जरा होती है । इस प्रकार निश्चयनयमे स्वभावमे स्थित आत्मा ही सवर और निर्जरा-रूप भगवान्ने कहा है ॥५५॥

अथ निश्चयदर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप प्रतिपादयति सूत्रकारः—

मूलगाथा—ससहाव वेदतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दसण-णाण चरित्त च ॥५६॥

संस्कृतच्छाया—स्वस्वभावं विदन् निश्चलचित्तो विमुक्तपरभाव ।
स जीवो ज्ञातव्यो दर्शन ज्ञानं चारित्रं च ॥५६॥

टीका—'सो जीवो णायव्वो दसण णाणं चरित्त च' इत्यादि, व्याख्यानं करोति—स एव जीवो ज्ञातव्यो भवति ज्ञाततत्त्वै दर्शन-ज्ञान-चारित्रं च, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूपं भवति। किं कुर्वन् सन् ? इत्याशङ्क्याह—'ससहावं वेदतो' स्वस्वभाव विदन् जानन् अनुभवन् सन् ? पुनश्च कथम्भूतः सन् ? 'णिच्चलचित्तो' निश्चलचित्तो निराकुलमानस सन्। पुनरपि किंविशिष्ट ? 'विमुक्कपरभावो' विमुक्तपरभाव, विशेषेण मुक्त परित्यक्त परो रागादिर्भाव. परिणामो येन स एवविध सन् निश्चयमोक्षमार्ग रत्नत्रयस्वरूपं परिणमतीति भावार्थ. ॥५६॥

आगैं कहै हैं—जीव ही दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है—

भा० व०—जो जीव दर्शन ज्ञान चारित्र जानना योग्य है। स्वभावकू जानता अनुभव करता निश्चल चित्त निराकुल मानस भया सता, अर त्यज्या है परभाव जो रागादि भाव परिणाम जानैं सो या प्रकार भया सता ॥५६॥

अव सूत्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रका स्वरूप प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(ससहाव) अपने आत्मस्वभावको (वेदतो) अनुभव करता हुआ जो जीव (विमुक्कपरभावो) परभावको छोडकर (णिच्चलचित्तो) निश्चल चित्त होता है (सो जीवो) वही जीव (दसण णाण चरित्त च) सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक् चारित्र है, ऐसा (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीकार्थ—'सो जीवो णायव्वो दसणणाण चरित्त च' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते है—तत्त्वके ज्ञाता पुरुषोको वही जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप जानना चाहिए। क्या करता हुआ ? ऐसी आशका उठाकर सूत्रकार कहते है—'ससहाव वेदतो' अर्थात् अपने स्वभावको जानता और अनुभव करता हुआ।

प्रश्न—पुन कैसा होता हुआ ?

उत्तर—'णिच्चलचित्तो' निश्चल चित्त अर्थात् निराकुल मनवाला होता हुआ।

प्रश्न—फिर भी कैसा होता हुआ ?

उत्तर—'विमुक्कपरभावो' विमुक्त परभाव होता हुआ। विशेप रूपसे मुक्त अर्थात् छोड दिया है रागादि पर भाव या पर-परिणामको जिसने, ऐसा होता हुआ वह जीव रत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षमार्गरूपसे परिणत होता है।

भावार्थ—जो रागादि पर भावको छोडकर स्व-स्वभावको जानता हुआ निश्चल मन हो जाता है, वही निश्चय रत्नत्रय है ॥५६॥

अथायमात्मा निश्चयमाश्रितो ज्ञानादिगुणमयो भवतीति प्रकाशयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—जो अप्पा तं णाण जं णाणं त च दसण चरण ।
सा सुद्धचेयणा वि जं णिच्छयणयमस्सिए जीवे ।।५७।।

सस्कृतच्छाया—य आत्मा तज्ज्ञानं यज्ज्ञानं तच्च दर्शनं चरणम् ।
सा शुद्धचेतनापि च निश्चयनयमाश्रिते जीवे ।।५७।।

टीका—'णिच्छयणयमस्सिए जीवे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकारेण मुनिना । निर्विकल्पपरमसमाधिस्वरूप निश्चयनयमाश्रिते जीवे सति । 'जो अप्पा तं णाण जं णाण त च दंसण चरण' य एवात्मा रागादिरहित. शुद्धात्मा तदेव ज्ञानमतीन्द्रियम्, यज्ज्ञानं तच्च दर्शनम्, तदेव स्वरूपाचरणं चारित्र च । 'सा सुद्धचेयणा वि य' सैव शुद्धा ज्ञानचेतनापि चेति भावना कर्तव्येति भावार्थः ।।५७।।

आगें फेरि हू कहैं है—

भा० व०—जे निर्विकल्प परम समाधिस्वरूप निश्चयनयकू आश्रित जीवकू होत सतै जीव ही आत्मा रागादि-रहित शुद्धात्मा सो ही ज्ञान अतीन्द्रिय जो ज्ञान, अर सो ही दर्शन, सो ही स्वरूपाचरण चारित्र, सो ही शुद्ध ज्ञानचेतना हू, या भावना कर्तव्य है ।।५७।।

अव यह आत्मा निश्चयको आश्रित कर ज्ञानादि गुणमय होता है, यह श्री देवसेनदेव प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(णिच्छयणयमस्सिए) निश्चयनयके आश्रित (जीवे) जीवमे (जो अप्पा) जो आत्मा है, (त णाण) वही ज्ञान है, (ज णाण) और जो ज्ञान है (त च दसण चरण) वही दर्शन है, वही चारित्र है (सा शुद्धचेयणा वि य) और वही शुद्ध चेतना भी है ।

टीकार्थ—'णिच्छयणयमस्सिए जीवे' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते है—निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप निश्चयनयके आश्रित जीवके होने पर 'जो अप्पा त णाण ज णाण त च दसण चरण' अर्थात् रागादि-रहित जो शुद्ध आत्मा है, वही अतीन्द्रिय ज्ञान है, जो ज्ञान है वही दर्शन है और वही स्वरूपाचरणरूप चारित्र है । 'सा सुद्धचेयणा वि य' और वही शुद्ध ज्ञान चेतना भी है, ऐसी भव्यजनोको भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ।।५७।।

अथ रागद्वेषाभावे परमानन्दो विलसतीति प्रकटयति सूत्रकर्ता—

मूलगाथा—उभयविणट्ठे भावे णिय-उवलद्धे सुसुद्धससरूवे ।
विलसइ परमाणदो जोईण जोयसत्तीए ॥५८॥

संस्कृतच्छाया—उभयविनष्टे भावे निजे उपलब्धे सुशुद्धस्वस्वरूपे ।
विलसति परमानन्दो योगिना योगशक्त्या ॥५८॥

टीका—'जोईणं जोयसत्तीए' इत्यादि ,व्याख्यानं क्रियते—योगिना चित्तनिरोधलक्षणो योगो विद्यते येषां ते योगिनस्तेषा योगिनां योगशक्त्या परमनिर्विकल्पसमाधिसामर्थ्येन 'विलसइ परमाणंदो' परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीरनन्तचतुष्टयरूपा यस्मिन्नसौ परम , परमश्चासावानन्दश्च परमानन्दो विलसति प्रकटीभवति । तथा चोक्तं योगलक्षण एकत्वसप्ततौ—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका. ॥२५॥

आगे कहैं हैं—राग द्वेष दोय भाव नष्ट होत सतैं स्वशुद्ध स्वरूप प्राप्त होत सतैं परमानन्द-मै विलास करैं हैं—

भा० व०—योगीनिकैं चित्त-निरोध लक्षण योग है विद्यमान जिनिकै ते योगी कहिए, तिनिकैं योगकी शक्तिकरि परम निर्विकल्प समाधि जो ध्यानकी सामर्थ्यकरि परा कहिए उत्कृष्ट है ऐसी जो मा लक्ष्मी अनत चतुष्टयरूप है जा विषैं सो परम कहिए । परम ऐसा जो आनन्द सो परमानद है, सो प्रगट होय है । उभय जो दोयरूप भाव परिणाम राग द्वेष तिनि दोऊनिकौ नष्ट होत संतें । तथा उपलब्ध होत सतैं । काहिकू ? निज स्वकीय अपने अतिशयकरि सुन्दर शुद्ध रूपकू प्राप्त होत सतै सिद्ध होय है ॥५८॥

अब राग और द्वेषका अभाव होने पर परम आनन्द उल्लसित होता है, यह सूत्रकार प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(उभयविणट्ठे भावे) राग और द्वेषरूप दोनो भावोके विनष्ट होनेपर (सुसुद्धससरूवे) अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वरूप (णियउवलद्धे) निज भावके उपलब्ध होनेपर (जोयसत्तीए) योगशक्तिसे (जोईण) योगियोके (परमाणदो) परम आनन्द (विलसइ) विलसित होता है ।

टीकार्थ—'जोईण जोयसत्तीए' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते है—चित्तके निरोध लक्षण-रूप योग जिनके पाया जाता है, वे योगी कहलाते है । उन योगियोके योगशक्तिसे अर्थात् परम निर्विकल्प समाधिकी सामर्थ्यसे 'विलसइ परमाणदो' परम आनन्द विलसित होता है । पर नाम उत्कृष्टका है । मा लक्ष्मीका नाम है । वह अनन्त चतुष्टयरूप मा लक्ष्मी जिसमे पाई जाती है, उसे परम कहते हैं । ऐसा परम जो आनन्द होता है, वह परमानन्द विलसित अर्थात् प्रकट होता है ।

एकत्वसप्ततिमे योगका लक्षण इस प्रकार कहा है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ-वाचक नाम है ॥२५॥

कस्मिन् कस्मिन् सति ? 'उभयविणट्ठे भावे णिय उवलद्धे सुसुद्धससरूवे' उभौ रागद्वेषरूपौ भावौ परिणामौ तयोर्द्वयोर्विनष्टयोः सतो । तथा उपलब्धे सति कस्मिन् ? निजे स्वकीये। कथम्भूते ? सुष्ठु अतिशयः शुद्धश्चासौ स्वस्वरूपश्च सुशुद्धस्वरूप, तस्मिन् सुशुद्धस्वरूपे प्राप्ते सति सिद्धा भवन्ति जीवा इति भावार्थः ॥५८॥

अथ योगं समर्थयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—किं किज्जइ[1] जोएण जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती ।
फुरइ ण परमाणदो सच्चेयणसभवो सुहदो ॥५९॥

संस्कृतच्छाया—किं क्रियते योगेन यस्य च न हि अस्ति ईदृशी शक्ति ।
स्फुरति न परमानन्द सच्चेतनसभव सुखदः ॥५९॥

टीका—'किं कीरइ जोएण' इत्यादि व्याकरोति टीकाकारः—तेन योगेन किं साध्यं भवति ? किमपि न । 'जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती' यस्य च योगस्य ध्यानस्य स्फुटं यथा

आगैं और हू कहैं है—

भा० व०—तिस योग करि कहा करिए, कहा साध्य होय ? नाही कछु भी । जोग्य ध्यानकै प्रगट जैसैं होय तैसैं ऐसी शक्ति नाही, सामर्थ्य न होय, याही कारणतैं । कहा नाही होय ? या आशकानैं होत सतै कहिए है परमानन्द परम पद सुखस्वरूप नाही स्फुरायमान होय, नाही जागै । कैसा परमानद ? सती शाश्वती समीचीन ऐसी जो चेतनाका निकटतैं है उत्पत्ति जाकी सो सच्चेतनासम्भव कहिए । बहुरि भी कैसा ? सुखको देने वाला परम अतीन्द्रिय सुख देने वाला है ॥५९॥

प्रश्न—वह परमानन्द क्या क्या होने पर प्रकट होता है ?

उत्तर—'उभयविणट्ठे भावे णिय-उवलद्धे सुसुद्धससरूवे' अर्थात् रागभाव और द्वेषभाव इन दोनो परिणामोके विनष्ट होनेपर वह परमानन्द प्रकट होता है ।

प्रश्न—तथा किसके उपलब्ध होनेपर वह परमानन्द प्रकट होता है ?

उत्तर—अपने सुशुद्ध स्वरूपके उपलब्ध होनेपर प्रकट होता है ।

प्रश्न—वह सु शुद्ध स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—सु सुष्ठु अर्थात् अतिशययुक्त, रागादि परभावसे रहित जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, उस सुशुद्ध आत्मस्वरूपके प्रकट होनेपर परमानन्द प्रकट होता है ।

भावार्थ—उस सुशुद्ध स्वरूपके प्राप्त होनेपर जीव सिद्ध हो जाते है ॥५८॥

अब श्री देवसेनदेव योगका समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जोएण किं कीरइ) उस योगसे क्या करना है ? (जस्स य) जिसकी (एरिसो) ऐसी (सत्ती) शक्ति (ण हु) नही (अत्थि) है कि उससे (सच्चेयणसभवो) सत्-चेतनसे उत्पन्न (सुहदो) सुखद (परमाणदो) परमानन्द (ण फुरइ) प्रकट न हो ।

टीकार्थ—'किं कीरइ जोएण' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते है—उस योगसे क्या साध्य है ? कुछ भी नही है । 'जस्स य ण हु एरिसी सत्ती' अर्थात् जिस ध्यानरूप योगकी

---

१. 'कीरइ' इत्यपि पाठ ।

भवति तथेदृशी एव विचारशक्तिर्नास्ति सामर्थ्यं न भवति। यस्मात् किं नास्तीत्याशङ्कायां सत्यां प्रोच्यते 'फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो' परमानन्द' परमसुखस्वरूपो न स्फुरति जागर्ति। किंविशिष्ट परमानन्द ? सती शाश्वती समीचीना चासौ चेतना च सच्चेतना, तस्याः सकाशात् संभव उत्पत्तिर्यस्य स सच्चेतनासंभवः। पुनरपि कथम्भूतः ? सुखद परमातीन्द्रियसुख-प्रद इत्यर्थं। अतएव परमानन्दसुखलालस भोः श्रीअमरसिंह ! शुभवता भवता तादृग्विधेन योगा-भ्यासेन भवितव्यमिति भावार्थः ॥५९॥

अथ तस्यैव योगस्य सहायाभावं दर्शयन्ति सूत्रकृतः—

मूलगाथा—जा किंचि वि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहियजोयस्स।
ताम ण परमाणदो उप्पज्जइ परमसुक्खयरो ॥६०॥

संस्कृतच्छाया—यावत् किञ्चिदपि चलति मनोध्याने योगिनो गृहीतयोगस्य।
तावन्न परमानन्दो उत्पद्यते परमसौख्यकर ॥६०॥

आगैं कहै है—ग्रहण किया है जोग जानैं, अर मन चलायमान होय है सो परमानन्द प्रगट नाही होय है—

भा० व०—जोगीकैं मन जो चित्त ध्यान जो परमात्मध्यान विषै जितनें काल किंचित्काल-मात्र चलायमान होय है। कैसा योगी कै ? ग्रहण किया है योग ध्यान जानैं, ऐसा योगी कैं जितने काल परमानन्द नाही उत्पन्न होय है। कैसा परमानद ? परम परमार्थ रूप सुखकू करणेका है स्वभाव जाका, ऐसा नाही प्रगट होय है ॥६०॥

निश्चयसे जैसी चाहिए, वैसी विचार-शक्ति या सामर्थ्य नही है कि जिससे क्या क्या न हो सके ? ऐसी आशका होने पर सूत्रकार कहते है कि 'फुरइ ण परमाणदो सच्चेयणसभवो सुहदो' अर्थात् जिससे परम सुखस्वरूप परमानन्द स्फुरित न हो—जाग्रत न हो।

प्रश्न—कैसा परमानन्द जाग्रत न हो ?

उत्तर—सच्चेतन-सभव। शाश्वतकाल रहने वाली समीचीन चेतनासे जिसकी उत्पत्ति हो, ऐसा सच्चेतनसभव परमानन्द जाग्रत न हो।

प्रश्न—फिर भी वह परमानन्द कैसा है ?

उत्तर—सुखद है, अर्थात् परम अतीन्द्रिय सुखका देने वाला है।

अतएव परमानन्द सुखके अभिलाषी हे श्री अमरसिंह ! आप जैसे भाग्यशालीको उस प्रकारके परमानन्द देने वाले योगका अभ्यास करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५९॥

अब सूत्रकार उसी योगकी सहायक सामग्रीकी अभावको दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जा) जब तक (गहियजोयस्स) योगके धारक (जोइस्स) योगीका (मणो) मन (झाणे) ध्यानमें (किंचिवि) कुछ भी (चलइ) चलायमान रहता है (ताम) तब तक (परमसोक्खयरो) परम सुख-कारक (परमाणदो) परमानन्द (ण उप्पज्जइ) नही उत्पन्न होता है।

टीका—'जा किंचिवि चलइ मणो झाणे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—यावत्काल किंचिन्मात्र मनश्चित्त चलति। कस्मिन्? ध्याने परमात्मध्याने। कस्य? 'जोइस्स' योगिन। कथम्भूतस्य? 'गहियजोयस्स' गृहीतो योगो ध्यानं येनासौ गृहीतयोगः, तस्यैवविधस्यापि योगिन। किं न भवतीति? 'ताम ण परमाणदो उप्पज्जइ' तावत्काल परमश्चासावानन्दश्च परमानन्द न उत्पद्यते सभवति। कथम्भूतः? 'परमसुक्खयरो' परमसौख्यकर, परमं परमार्थरूप सौख्य करोतीत्येवं शीलमित्यर्थं। तस्मात्कारणान्निश्चलचित्तेन भव्येन भाव्यमिति भावार्थः ॥६०॥

अथ रागादि विकल्पाभावफल दर्शयन्ति सूत्रकर्तारः—

मूलगाथा—सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारण सो हु ॥६१॥

संस्कृतचछाया—सकलविकल्पे रुद्धे उत्पद्यते कोऽपि शाश्वतो भावः।
य आत्मनः स्वभावो मोक्षस्य च कारण स खलु ॥६१॥

आगैं कहै हैं—सकल विकल्प नष्ट होत सतैं कोई मोक्षका कारण शाश्वता भाव प्रगट होय है—

भा० व०—सकल रागादिक विकल्प नष्ट होत सतैं कोइक शाश्वता भाव उपजै है जो आत्माका स्वभाव है। बहुरि सो स्वभाव मोक्षका कारण हाय है।।६१॥

टीकार्थ—'जा किंचिवि चलइ मणो झाणे' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जितने काल तक रचमात्र भी चित्त चलायमान रहता है।

प्रश्न—किसमे चलायमान रहता हे?

उत्तर—परम शुद्ध आत्मध्यानमे।

प्रश्न—किसका?

उत्तर—योगीका।

प्रश्न—कैसे योगीका?

उत्तर—'गहियजोयस्स' अर्थात् जिसने योग-ध्यानको ग्रहण किया है, इस प्रकारके योगीका।

प्रश्न—उसके क्या नही होता?

उत्तर—'ताम ण परमाणदो उप्पज्जइ' उतने काल तक परम उत्कृष्टरूप जो आनन्द है, वह उत्पन्न नही होता है।

प्रश्न—वह परमानन्द कैसा है?

उत्तर—'परममुक्खयरो' अर्थात् परम सुखका करनेवाला है। परम परमार्थरूप सुखको करनेका स्वभाववाला है।

इस कारण भव्य जीवोको ध्यान-अवस्थामे अत्यन्त निश्चलचित्त होना चाहिए यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६०॥

अब सूत्रकार रागादि विकल्पोंके अभावका फल दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मयलवियप्पे) ममम्त विकल्पोंके (थक्के) रुक जानेपर (कोवि) कोई अद्वितीय (नामओ) —नित्य (मावो) भाव (उप्पज्जइ) उत्पन्न होता है (जो) जो (अप्पणो)

टीका—'उप्पज्जइ को वि सासओ भावो' इत्यादि व्याक्रियते वृत्तिकृता मुनिना—कोऽपि कश्चिदपि भाव.। कथम्भूत ? शाश्वत । उत्पद्यते प्रकटीभवति। कदा ? 'सयलवियप्पे थक्के' सकलाश्च ते विकल्पा रागादयश्च सकलविकल्पास्तेषु। कथम्भूतेषु ? नष्टेषु सत्सु । बहुवचन कथम् ? प्राकृते वचन-लिङ्गादिनियमो नास्तीति। कथम्भूतो या भावः ? 'जो अप्पणो सहाओ' य किलात्मन स्वभाव. सहोत्पन्न । पुनश्च किंविशिष्ट ? 'मोक्खस्स य कारणं सो हु' स एव भाव स्फुटं कारणं भवतीत्यध्याहार । कस्य ? मोक्षस्य चानन्तचतुष्टयस्वरूपस्येति मोक्षाभिलाषिणा भव्येनेति मत्वा सर्वे रागादय. परे भावा मोक्तव्या इति भावार्थ. ॥६१॥

आत्माका (सहावो) स्वभाव है। (सो) वह (खु) निश्चयसे (मोक्खस्स य) मोक्षका (कारण) कारण है।

टीकार्थ—'उप्पज्जइ को वि सासओ भावो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—कोई विलक्षण भाव। कैसा ? शाश्वत। उत्पन्न होता है—प्रकट होता है।

प्रश्न—कब प्रकट होता है ?

उत्तर—'सयलवियप्पे थक्के' अर्थात् रागादि जितने भी विकल्प हैं, उन सबके नष्ट हो जाने पर वह शाश्वत भाव प्रकट होता है।

प्रश्न—'सयलवियप्पे थक्के' यह तो सप्तमी विभक्तिका एकवचनरूप प्रयोग है। आपने उसका बहुवचनरूप अर्थ कैसे किया है ?

उत्तर—प्राकृतमे वचन और लिंग आदिका कोई नियम नही है। इसलिए जहाँ जैसा अर्थ विवक्षित होता है, वैसा अर्थ कहा जाता है।

प्रश्न—फिर वह शाश्वत भाव कैसा है ?

उत्तर—'जो अप्पणो सहावो' अर्थात् वह आत्माका स्वभाव है। निश्चयसे जो आत्माका स्वभाव है वह उसके साथ ही उत्पन्न होता है।

अथात्मध्यानमाहात्म्य प्रकटयन्तीति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—अप्पसहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए।
जाणइ णिय-अप्पाण पिच्छइ त चेव सुविसुद्ध ॥६२॥

संस्कृतच्छाया—आत्मस्वभावे स्थितो योगी न मनुते आगतान् विषयान्।
जानाति निजात्मान पश्यति तं चैव सुविशुद्धम् ॥६२॥

टीका—'अप्पसहावे थक्को जोई' इत्यादि व्याकरोति टीकाकृन्मुनि—आत्मन स्वभावः स्वरूपमात्मस्वभाव, तस्मिन् स्थितः सन्। कोऽसौ ? योगी ध्यानी पुमान्। किं करोतीति ? 'ण मुणेइ आगए विसए' न मनुते जानाति नानुभवति। कान् ? विषयान्। कथम्भूतान् ? उदयमागतान्। यथा शिवकुमारो निजान्तःपुरमध्येऽपि स भावलिङ्गी भवन् षष्ठोपवासेन काञ्जिकाहारेण परगृहादानीतेन स्थित., तथाऽऽसन्नभव्येनान्येनापि भवितव्यम्। तर्हि किं करोति स

भा० व०—आत्मस्वभावविषैं स्थित होत सतै योगी उदयमे आये ऐसे जे विषयनिकू नाही जानै है, अर निज आत्माकू जाणै है, अर आत्मा ही कौ भले प्रकार विशुद्ध देखै है ॥६२॥

अब श्री देवसेनदेव आत्म-ध्यानके माहात्म्यको प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(अप्पसहावे) आत्मस्वभावमे (थक्को) स्थित (जोई) योगी (आगए) उदयमे आये हुए (विसए) इन्द्रियोके विषयोको (ण मुणेइ) नही जानता है। किन्तु (णिय-अप्पाण) अपनी आत्माको ही (जाणइ) जानता है (त चेव) और उसी (सुविसुद्ध) अतिविशुद्ध आत्माको (पिच्छइ) देखता है।

टीकार्थ—'अप्पसहावे थक्को जोई' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—आत्माका जो स्वभाव है, स्वरूप है, उस आत्मस्वभावमे स्थित कोई ध्यानी योगी पुरुष है।

प्रश्न—वह क्या करता है ?

उत्तर—'ण मुणेइ आगए विसए' अर्थात् नही जानता है, उनका अनुभव नही करता है।

प्रश्न—किनका अनुभव नही करता है ?

उत्तर—इन्द्रियोके विपयोका अनुभव नही करता है।

प्रश्न—कैसे विपयोका अनुभव नही करता है ?

उत्तर—उदयमे आये हुए विपयोका अनुभव नही करता है।

जैसे शिवकुमार नामका कोई राजा अपने अन्त पुरमे रहता हुआ भी भावलिंगी होकर, पर-घरमे लाये गये काजीके आहारको पष्ठोपवास (वेला-दो दिनके उपवास) की पारणामे ग्रहण करता हुआ स्थित था। उसी प्रकार निकट भव्यजीवको भी होना चाहिए।

योगी ? 'जाणइ णियअप्पाणं' निजात्मानं स्वस्वरूपं जानात्यनुभवति। पुन किं करोतीति ? 'पिच्छइ त चेव सुविसुद्ध' सुविशुद्ध रागादिरहित तमेवात्मान पश्यत्यवलोकयतीत्यर्थ इति मत्वा शुद्धात्मस्वरूपे भावना कर्तव्या तज्ज्ञैर्भव्यजनैरिति भावार्थः ॥६२॥

अथ पुनरपि निश्चयध्यानारूढस्य योगिनो माहात्म्य दर्शयतीति सूत्रकार —

मूलगाथा—ण रमइ विसएसु मणो जोइस्सुवलद्धसुद्धतच्चस्स ।
एकीहवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥६३॥

संस्कृतच्छाया —न रमते विषयेषु मनो योगिन उपलब्धशुद्धतत्त्वस्य ।
एकीभवति निराशो म्रियते पुन ध्यानशस्त्रेण ॥६३॥

टीका—'ण रमइ विसएसु मणो' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता मुनिना—मनो

भा० व०—योगीकौ मन है सो विषयनि विषै नाही रमै है। कैसा है योगी ? प्राप्त भया है शुद्धतत्त्व जाकैं। बहुरि कैसा है ? एक होत है निराश-विषयनि विषै नष्ट भई आशा जाकैं। अथवा इस लोकविषैं आशा, परलोक आशा, धनाशा, जीविताशा जाकै नष्ट भई सो निराश-निर्गत गई है दुराशा जाकैं। पश्चात् कहा करै है ? ताका मन मरै है, विनाशकू प्राप्त होय है। काहे करि ? ध्यान शस्त्रकरि ॥६३॥

प्रश्न—तो ऐसा वह योगी क्या करता है ?

उत्तर—'जाणइ णिय अप्पाण' अर्थात् अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानता है और अनुभव करता है।

प्रश्न—पुन वह क्या करता है ?

उत्तर—'पिच्छइ त चेव सुविसुद्ध' अर्थात् रागादि-रहित अपनी उसी सुविशुद्ध आत्माको देखता है, अवलोकन करता है।

ऐसा जानकर आत्मज्ञ भव्यजनोको शुद्ध आत्मस्वरूपमे भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६२॥

अव फिर भी सूत्रकार निश्चयध्यानमे आरूढ योगीका माहात्म्य दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(उवलद्धसुद्धतच्चस्स) जिसने शुद्धतत्त्वको प्राप्त कर लिया है, ऐसे (जोइस्स) योगीका (मणो) मन (विसएसु) इन्द्रियोके विषयोमे (ण रमइ) नही रमता है। किन्तु (णिरासो) विषयोसे निराश होकर आत्मामे (एकीहवइ) एकमेव हो जाता है। (पुणो) पुन (झाणसत्थेण) ध्यानरूपी शस्त्रके द्वारा (मरइ) मरणको प्राप्त हो जाता है।

टीकार्थ—'ण रमइ विसएसु मणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—अनेक विकल्पात्मक मन नही रमता है, अर्थात् आसक्त नही होता है।

अथ मोहोदये सति मनो न म्रियते इति ब्रुवन्त्यग्रे श्रीदेवसेनदेवा·—

मूलगाथा—ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खय गओ सव्वो ।
खीयति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ।।६४।।

संस्कृतच्छाया—न म्रियते तावदित्य मनो यावन्न मोहो क्षयं गत सर्वं ।
क्षीयन्ते क्षीणमोहे शेषाणि च घातिकर्माणि ।।६४।।

टीका—'ण मरइ तावेत्थ मणो' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते वृत्तिकर्त्रा मुनिना । तावत्कालमित्यमनुना प्रकारेण । 'अत्थ' इति पाठे अस्मिन् ध्याने पुरुषे वा मनश्चित्तं विकल्परूपं न म्रियते न विलीयते । कियन्त कालमिति ? 'जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो' यावत्कालं सर्वं सपरिवारो ·मोहो न क्षयं गतो भवति । 'खीयति' क्षीयन्ते क्षय यान्ति । कस्मिन् ? क्षीणमोहे । क्षीण क्षयं गतो मोहो यस्माद् यस्मिन् वा तत् क्षीणमोह गुणस्थानम्, तस्मिन् क्षीण-

---

आगे कहै है—मनकूं मरे बिना मोहादिक नाही मरै है । अर मन मरैं समस्त कर्म क्षय होय है—

भा० व०—तावत् काल या प्रकार या थानविषै वा पुरुषविषैं मन जो चित्तके विकल्परूप नाही मरै है, नाही विलय होय है । कितने काल ? या प्रकार जितने काल सर्व परिवार सहित मोह क्षयकूं नाही प्राप्त होय है । अर मोहकूं क्षीणमोह द्वादशम गुणस्थानविषैं मोहकूं क्षीण होत सतैं घातिया कर्म द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक । कितने ? समस्त घातिया कर्म । या प्रकार जाणि मोहका वशीकरणविषैं यत्न कर्तव्य है । कौन कूं ? भव्यजननिको । यो भावार्थ जानना ।।६४।।

अब आगे श्रीदेवसेनदेव कहते है कि मोहके उदय होनेपर मन नही मरता है—

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (सव्वो मोहो) सम्पूर्ण मोह (खय) क्षयको (ण गओ) नही प्राप्त होता है, (ताव) तबतक (इत्थ) इस आत्माका (मणो) मन (ण मरइ) नही मरता है। (खीणमोहे) मोहके क्षीण होनेपर (सेसाणि य) शेष भी (घाइकम्माणि) घातीकर्म (खीयति) नष्ट हो जाते है ।

टीकार्थ—'ण मरइ तावेत्थ मणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ व्याख्यान करते हैं—उतने कालतक इस प्रकारसे मन नही मरता है । अथवा 'इत्थ' पाठके स्थानपर 'अत्थ' पाठ मानने पर यह अर्थ होता है—इस ध्यानमे अथवा ध्यान करनेवाले पुरुषमे विकल्परूप मन नही मरता है अर्थात् आत्मामे विलीन नही होता है ।

प्रश्न—कितने कालतक नही मरता है ?

उत्तर—'जाम ण मोहो खय गओ सव्वो' अर्थात् जितने कालतक सपरिवार सर्व मोह क्षय नही हो जाता है, तबतक मन नही मरता है ।

पुन सर्वमोह परिवार क्षयको प्राप्त होता है ।

प्रश्न—किसमे क्षयको प्राप्त होता है ?

उत्तर—क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमे क्षयको प्राप्त होता है ।

गलितमाहात्म्यं गलितम् नष्टं माहात्म्यं महिमा यस्य तद्। दार्ष्टान्तमाह—'तह णिहय मोहराए' तथा मोहराजे निहते विनाशिते। केन? ज्ञानखड्गेण। किं भवति? गलन्ति नाशं गच्छन्ति। कानि? निःशेषघातीनि निःशेषाणि समस्तानि च तानि घातिकर्माणि, तानीति ज्ञात्वा परवस्त्व-भिलाषरूपो मोहस्त्याज्यो भवति तत्त्वविद्भिः पुरुषैरिति भावार्थं ॥६५॥

अथ घातिकर्मचतुष्टये नष्टे सति किं फल भवतीति प्रतिपादयन्ति श्रीदेवसेनदेवा —

मूलगाथा—घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवल णाण।
लोयालोयपयास कालत्तयजाणग परम ॥६६॥

संस्कृतच्छाया—घातिचतुष्के नष्टे उत्पद्यते विमलकेवलज्ञानम्।
लोकालोकप्रकाशक कालत्रयज्ञायक परमम् ॥६६॥

टीका—'घाइचउक्के णट्ठे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता

आगें कहैं है—घातियाचतुष्टय नष्ट होत सतैं केवलज्ञान प्राप्त होय है—

भा० व०—घातियाचतुष्क ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अन्तराय ये चार घातिया कर्म नष्ट होत सतैं मल-रहित केवलज्ञान उपजै है। कैसा है केवलज्ञान? लोकालोक-प्रकाशक, अर कालत्रयका जाननेवाला परम उत्कृष्ट ऐसा है ॥६६॥

प्रश्न—कैसी होती हुई नष्ट हो जाती है?

उत्तर—गलित माहात्म्य होकर। गल गया है—नष्ट हो गया है माहात्म्य, महिमा या जीतनेका उत्साह जिसका, उसे गलितमाहात्म्य कहते हैं।

अब इसका दार्ष्टान्त कहते है—'तह णिहयमोहराए' अर्थात् उसी प्रकार मोहराजाके ज्ञानरूपी खड्गसे विनाश कर दिये जानेपर समस्त घातिकर्म स्वय ही गल जाते है, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—दशवें गुणस्थानमें मोहके सर्वथा क्षय हो जानेपर बारहवें गुणस्थानमें शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घातिया कर्म स्वय ही क्षयको प्राप्त हो जाते है। ऐसा जानकर तत्त्ववेत्ता सत्पुरुषोंको पर वस्तुकी अभिलाषारूप मोह सदा त्याग देने योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६५॥

अब आगे घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर क्या फल प्राप्त होता है, यह श्रीदेवसेन

षष्ठ पर्व

सर्वज्ञ ज्ञानसंसिद्धिस्तवास्तु सुखदायिनी।
भो भव्यामरसिंहाख्य सर्वसाधुजनेप्सिता ॥

(इत्याशीर्वादः)

अथ केवलज्ञानोद्भवानन्तर कथम्भूतो भवतीति प्रतिपादयन्त्यग्रे सूत्रकृतः—

मूलगाथा—तिहुवणपुज्जो होउ खविउ सेसाणि कम्मजालाणि।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥६७॥

संस्कृतच्छाया—त्रिभुवनपूज्यो भूत्वा क्षपित्य शेषाणि कर्मजालानि।
जायतेऽभूतपूर्वो लोकाग्रनिवासी सिद्धः ॥६७॥

टीका—'तिहुवणपुज्जो होउं' इत्यादि व्याक्रियते वृत्तिकृता यतिना—त्रिभुवनपूज्यो भूत्वा त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, तेन पूजितो भूत्वा। पश्चात् किं कृत्वा? 'खविउ सेसाणि कम्मजालाणि' क्षपित्वा। कानि? कर्मजालानि कर्मसमूहानि। कथम्भूतानि? शेषाणि समस्तानि अघातिकर्माण्युद्धरितानि वा। 'जायइ अभूदपुव्वो' जायते समुत्पद्यते। कथम्भूतो

हे भव्य अमरसिंह! सर्वसाधुजनोको अभीष्ट और अक्षय सुख देनेवाली सर्वज्ञ-ज्ञानकी ससिद्धि तेरे होवे ॥१॥ (इति आशीर्वाद)

बहुरि कहा होय? सो ही कहैं है—

भा० व०—तीन भुवन जो तीन लोक, ताके पूज्य होय करि, अर बाकीके च्यारि अघातिया आयु नाम गोत्र वेदनीय जे समस्त कर्म-जाल तिनकू नष्ट करि सिद्ध होय है। कैसा सिद्ध होय है? पूर्वै ऐसा कदे भी नाही भया। बहुरि कैसा होय है? लोकका अग्र भाग विषै है निवास जिनका ऐसा सिद्ध होय है ॥६७॥

अब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् जीव कैसा हो जाता है, यह सूत्रकार आगे प्रतिपादन करते है—

अन्वयार्थ—(तिहुवणपुज्जो) अरहन्त अवस्थामे तीन भुवनके जीवोका पूज्य होकर, पुन (सेसाणि) शेष (कम्मजालाणि) कर्मजालोको (खविउ) क्षय करके (अभूदपुव्वो) अभूतपूर्व (लोयग्गणिवासिओ) लोकाग्रका निवासी (सिद्धो) सिद्ध परमात्मा (जायइ) हो जाता है।

टीकार्थ—'तिहुवणपुज्जो होउ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ व्याख्यान करते है—ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक इन तीनो भुवनोके समाहारको त्रिभुवन कहते है। ऐसे त्रिभुवनसे पूजित होकर।

पुन किंविशिष्टः? 'फदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो' परिस्पन्द-चलनाभ्या विरहितो विरक्त सिद्धो निष्पन्नो भवति। पुनश्च कथम्भूतोऽभूत्? 'अव्वावाहसुहत्थो' अव्याबाधसुखस्थः अव्याबाधं बाधारहितं च तत्सुख च अव्याबाधसुखम्, तस्मिन् स्थितो लीनस्तन्मयो भवतीत्यर्थं। पुनश्च किं विशिष्ट? 'परमट्ठगुणेहिं सजुत्तो' परमार्थगुणैर्युक्त, परमार्थाश्च ते केवलज्ञानादयो गुणाश्च परमार्थगुणास्तैर्युक्त सयुक्त परिणत. सन् सदा तिष्ठतोति मत्वा भो सविनयामरसिंहतनय लक्ष्मण! तेषां सिद्धाना केवलज्ञानानन्तसुखाद्यनन्तगुणा भावनीया भवद्भिरिति भावार्थ ॥६८॥

अथानन्तर पुनरपि सिद्धगुणानाविष्करोति सूत्रकृदिति—

मूलगाथा—लोयालोय सव्व जाणइ पेच्छइ करणकमरहियं।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणतपज्जायगुणकलिए ॥६९॥

सस्कृतच्छाया—लोकालोकं सर्वं जानाति पश्यति करणक्रमरहितम्।
मूर्तामूर्तानि द्रव्याणि अनन्तपर्यायगुणकलितानि ॥६९॥

बहुरि सिद्ध कैसा होय है?

भा० व०—समस्त लोकालोकक़ू करण-क्रम-रहित जानै है। जाकरि करिये सो तो करण कहिए। अर क्रम अनुक्रमतै जानैं सो क्रम कहिए। सो सिद्ध करण-क्रम-रहित एकैकाल जानैं है, देखै है मूर्तामूर्त द्रव्यनिकू। मूर्त तो एक पुद्गल द्रव्य है, अर ससार-अपेक्षा जीव द्रव्य भी मूर्त है। अर द्रव्यार्थिक नयकरि अमूर्त है। बाकीके च्यारि धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य सर्वथा अमूर्त ही हैं। कैसे हैं द्रव्य? अनत पर्याय गुणनिकरि कलित कहिए व्याप्त ऐसे। तिनि सर्वनिकू जानै है ॥६९॥

आनेको आगमन कहते है। यहा पर 'भवति' क्रियाका अध्याहार करना चाहिए। सिद्ध परमात्मा ऐसे गमन और आगमनसे रहित होता है।

प्रश्न—पुन सिद्ध परमात्मा कैसा है?

उत्तर—'फदण चलणेहि विरहिओ सिद्धो' अर्थात् परिस्पन्द और चलनसे सर्वथा रहित है। और सिद्ध है अर्थात् अपने सर्व कार्य सम्पन्न कर चुका है।

प्रश्न—पुन कैसा है?

उत्तर—'अव्वाबाहसुहत्थो' अर्थात् सर्व प्रकारकी बाधाओसे रहित ऐसा जो अव्याबाध सुख है, उसमे स्थित है, लीन है अर्थात् तन्मय है।

प्रश्न—पुन वह कैसा है?

उत्तर—'परमट्ठगुणेहि सजुत्तो' परमार्थ जो केवलज्ञानादि अनन्तगुण है, उनसे सयुक है, तद्रूप परिणत है।

ऐसे स्वरूपवाला परमात्मा सिद्धालयमे सदाकाल अवस्थित रहता है। ऐसा जानकर हे सविनय अमरसिंहके पुत्र लक्ष्मण! आपको उन सिद्धोके केवलज्ञान, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोकी भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६८॥

अब इसके पश्चात् सूत्रकार फिर भी सिद्धोंके गुणोको प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(करणकमरहिय) इद्रियोके क्रमसे रहित एक साथ (सव्व) सर्व (लोयालोय)

जायते ? भूतपूर्वो न, एवंविधोऽभूतपूर्वो जातः समुत्पन्नो जीव इति । पुनस्सः कथम्भूतो भवति ? 'लोयग्गणिवासिओ सिद्धो' लोकाग्रनिवासी सिद्धो भवति । लोकाग्रे लोकशिखरे निवासः स्थानं विद्यते यस्यासौ लोकाग्रनिवासी सिद्धः कृतकृत्यः परमात्मा परब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः । इति ज्ञात्वा भो पुरुषसिंहामरसिंह, एवंविधः सिद्धो मनसा स्मरणीयो वचसा वक्तव्यः कायेन तदनुकूलमाचरणीयः शुभयता भवतेति भावार्थः ॥६७॥

अथ स एव सिद्धः पुनः कथम्भूतो भवतीति व्यक्तीकरोति सूत्रकर्ता । तद्यथा—

मूलगाथा—गमणागमणविहीणो फंदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो ।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहि संजुत्तो ॥६८॥

संस्कृतच्छाया—गमनागमनविहीनः स्पन्दनचलनाभ्यां विरहितः सिद्धः ।
अव्याबाधसुखस्थः परमार्थगुणैः संयुक्तः ॥६८॥

टीका—'गमणागमणविहीणो' इत्यादि व्याख्यानं करोति वृत्तिकर्ता मुनिः । गमनागमनविहीनः-गतिरग्रे आगमनं संसारे गमनागमनाभ्यां विहीनो रहितो भवतीति क्रियाध्याहारः क्रियते ।

बहुरि सिद्ध कैसा होय है ? सो कहै है—

भा० व०—सिद्ध होय है । कैसा होय है ? गमन आगमन-रहित होय है । बहुरि चलना-चलन-रहित होय है, अकंप होय है, अव्याबाध सुखसहित है—बाधा-रहित सुख तन्मय होय है । अर परमार्थ गुण जे अनंत ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य ऐसे ज्ञानादि परमार्थ गुण-सयुक्त होय है ॥६८॥

प्रश्न—पुन क्या करके ?

उत्तर—'खविउ सेसाणि कम्मजालाणि' अर्थात् शेष कर्मोके जालको अर्थात् बारहवें गुणस्थानमे घात करनेसे शेष रहे जो चार अघातियाकर्म हैं, उन सबको क्षय करके ।

'जायइ अभूदपुव्वो' अर्थात् पूर्वकालमे जैसा कभी नही हुआ, ऐसा अभूतपूर्व होकर ।

प्रश्न—पुन कैसा होता है ?

उत्तर—'लोयग्गणिवासिओ सिद्धो' अर्थात् लोकके अग्रभागमे—सिद्धालयमे निवास-स्थान है जिसका ऐसा लोकाग्र-निवासी कृतकृत्य परमब्रह्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

ऐसा जानकर हे पुरुषोमे सिंहके समान श्रेष्ठ अमरसिंह ! भाग्यशाली आपके द्वारा उक्त प्रकारका सिद्ध परमात्मा मनसे सदा स्मरणीय, वचनसे कथनके योग्य और कायसे तदनुकूल आचरण करनेके योग्य है । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६७॥

अब वही सिद्ध परमात्मा कैसा होता है, यह सूत्रकार प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(गमणागमणविहीणो) गमन और आगमनसे रहित (फंदण-चलणेहि) परिस्पन्द और हलन-चलनसे रहित, (अव्वाबाहसुहत्थो) अव्याबाध सुखमे स्थित (परमट्ठगुणेहि) परमार्थ या परम अष्टगुणोंसे (संजुत्तो) संयुक्त (सिद्धो) सिद्ध परमात्मा होता है ।

टीकार्थ—'गमणागमणविहीणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते है—वह सिद्ध परमात्मा गमन और आगमनसे रहित है । आगे जानेको गमन कहते हैं । ससारमे वापिस

पुन किंविशिष्ट. ? 'फंदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो' परिस्पन्द-चलनाभ्या विरहितो विरक्त सिद्धो निष्पन्नो भवति । पुनश्च कथम्भूतोऽभूत् ? 'अव्वावाहसुहत्थो' अव्यावाधसुखस्थः अव्यावाधं वाधारहितं च तत्सुख च अव्यावाधसुखम्, तस्मिन् स्थितो लीनस्तन्मयो भवतीत्यर्थं । पुनश्च किं विशिष्ट ? 'परमट्ठगुणेहि सजुत्तो' परमार्थगुणैर्युक्त ,परमार्थाश्च ते केवलज्ञानादयो गुणाश्च परमार्थगुणास्तैर्युक्त सयुक्त परिणत. सन् सदा तिष्ठतीति मत्वा भो सविनयामरसिंहतनय लक्ष्मण ! तेषा सिद्धाना केवलज्ञानानन्तसुखाद्यनन्तगुणा भावनीया भवद्भिरिति भावार्थ ॥६८॥

अथानन्तर पुनरपि सिद्धगुणानाविष्करोति सूत्रकृदिति—

मूलगाथा—लोयालोय सव्व जाणइ पेच्छइ करणकमरहिय ।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणतपज्जायगुणकलिए ॥६९॥

सस्कृतच्छाया—लोकालोक सर्वं जानाति पश्यति करणक्रमरहितम् ।
मूर्तामूर्तानि द्रव्याणि अनन्तपर्यायगुणकलितानि ॥६९॥

वहुरि सिद्ध कैसा होय है ?

भा० व०—समस्त लोकालोकक़ू करण-क्रम-रहित जानै है । जाकरि करिये सो तो करण कहिए । अर क्रम अनुक्रमतैं जानैं सो क्रम कहिए । सो सिद्ध करण-क्रम-रहित एकैकाल जानै है, देखै है मूर्तामूर्त द्रव्यनिकू । मूर्त तो एक पुद्‌गल द्रव्य है, अर ससार-अपेक्षा जीव द्रव्य भी मूर्त है । अर द्रव्यार्थिक नयकरि अमूर्त है । वाकीके च्यारि धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य सर्वथा अमूर्त ही हैं । कैसे हैं द्रव्य ? अनत पर्याय गुणनिकरि कलित कहिए व्याप्त ऐसे । तिनि सर्वनिकू जानै है ॥६९॥

आनेको आगमन कहते हैं । यहा पर 'भवति' क्रियाका अध्याहार करना चाहिए । सिद्ध परमात्मा ऐसे गमन और आगमनसे रहित होता है ।

प्रश्न—पुन सिद्ध परमात्मा कैसा है ?

उत्तर—'फंदण चलणेहि विरहिओ सिद्धो' अर्थात् परिस्पन्द और चलनसे सर्वथा रहित है । और सिद्ध है अर्थात् अपने सर्व कार्य सम्पन्न कर चुका है ।

प्रश्न—पुन कैसा है ?

उत्तर—'अव्वावाहसुहत्थो' अर्थात् सर्व प्रकारकी वाधाओसे रहित ऐसा जो अव्यावाध सुख है, उसमे स्थित है, लीन है अर्थात् तन्मय है ।

प्रश्न—पुन वह कैसा है ?

उत्तर—'परमट्‌ठगुणेहि सजुत्तो' परमार्थ जो केवलज्ञानादि अनन्तगुण हैं, उनसे सयुक्त है, तद्रूप परिणत है ।

ऐसे स्वरूपवाला परमात्मा सिद्धालयमे सदाकाल अवस्थित रहता है । ऐसा जानकर हे सविनय अमरसिंहके पुत्र लक्ष्मण ! आपको उन सिद्धोके केवलज्ञान, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोकी भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६८॥

अव इसके पश्चात् सूत्रकार फिर भी सिद्धोके गुणोको प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(करणकमरहिय) इन्द्रियोके क्रमसे रहित एक साथ (सव्व) सर्व (लोयालोय)

टीका—'जाणइ पेच्छइ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता मुनिना। तद्यथा-जानाति पश्यति युगपदेककालम्। किं तत्? 'लोयालोयं सव्वं' सर्वं लोकालोकम्। लोकश्चालोकश्च लोकालोकं द्वन्द्वैकत्वस्य स्मरणात्। कथं जानातीति? 'करणकमरहिय' करणक्रमरहितम्, येन क्रियते तत्करणम्, क्रमोऽनुक्रम, करण च क्रमश्च करणक्रमौ, ताभ्या रहित यथा भवति तथा युगपज्जानाति पश्यति वेत्यर्थ। पुन. किं जानाति? मुत्तामुत्ते दव्वे' मूर्तानि द्रव्याणि मूर्तपुद्गलद्रव्यमेकम्, ससारापेक्षया जीवद्रव्यमपि मूर्त्तम्, द्रव्यार्थिकनयेनामूर्तम्। शेषाणि चत्वारि धर्माधर्माकाशकालानि द्रव्याणि सर्वथाऽमूर्तानि। पुनः कथम्भूतानि! 'अणतपज्जायगुणकलिए' अनन्तपर्यायगुणकलितानि, पर्यायश्च गुणाश्च पर्यायगुणा., अनन्ताश्च ते पर्यायगुणाश्च अनन्तपर्यायगुणास्तै कलितानि सयुक्तानि सर्वाणि द्रव्याणि सर्वतो जानाति पश्यतीति भावार्थ ॥६९॥

लोक और अलोकको, तथा (अणतपज्जायगुणकलिए) अनन्त पर्याय और अनन्त गुणोसे सयुक्त सभी (मुत्तामुत्ते दव्वे) मूर्त और अमूर्त द्रव्योको (जाणइ) जानता है और (पेच्छइ) देखता है।

टीकार्थ—'जाणइ पेच्छइ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-व्याख्यान करते है—सिद्ध परमात्मा युगपद् एक ही कालमे जानते और देखते है।

प्रश्न—क्या जानते और देखते है?

उत्तर—'लोयालोय सव्व' लोक और अलोकका द्वन्द्व समासरूप लोकालोकको जानते और देखते हैं।

प्रश्न—कैसे जानते-देखते है?

उत्तर—'करणकमरहिय' अर्थात् करण और क्रमसे रहित जानते और देखते है। जिसके द्वारा कार्य किया जावे उसे करण कहते हैं और अनुक्रमको क्रम कहते है। इन करण और क्रमसे रहित एक साथ जानते-देखते हैं।

प्रश्न—पुन किनको जानते-देखते हैं?

उत्तर—'मुत्तामुत्ते दव्वे' अर्थात मूर्त्त एक पुद्गल द्रव्यको, और ससारकी अपेक्षा मूर्त्त हो रहे जीवद्रव्यको भी, क्योकि द्रव्यार्थिकनयसे जीव अमूर्त्त है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सर्वथा अमूर्त्त हैं, इन सबको जानते देखते हैं।

प्रश्न—पुन ये सब द्रव्य कैसे हैं?

उत्तर—'अणतपज्जायगुणकलिए' अर्थात् अनन्त पर्यायोसे और अनन्त गुणोसे कलित या सयुक्त ये सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य हैं।

उन सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्योको उनके अनन्त गुण और पर्यायसे सयुक्त एक साथ सिद्ध परमात्मा जानते और देखते हैं। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६९॥

अथानन्तरं स सिद्धः सिद्धालये कियन्त कालं तिष्ठतीति कथयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—धम्माभावे परदो गमण णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स ।
अच्छइ अणतकाल लोयग्गणिवासिओ होउ ॥७०॥

सस्कृतच्छाया—धर्माभावे परतो गमनं नास्तीति तस्य सिद्धस्य ।
तिष्ठत्यनन्तकालं लोकाग्रनिवासी भूत्वा ॥७०॥

टीका—'परदो गमणं णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स' इति विशेषेण विवृणोति टीकाकार —तस्य पूर्वोक्तस्य सिद्धस्य परतो गमन नास्तीति, परस्मिन् परस्माद् वा परतः। कस्मात् ? लोकाग्रत सकाशात्। कस्मिन् सति ? 'धम्माभावे' धर्माभावे सति, धर्मद्रव्यस्याभावे। तर्हि किं करोतीति ? 'अच्छइ अणतकालं' तत्रैव कालमनन्तं तिष्ठति। किं कुर्वन् सन् ? 'लोयग्गणिवासिओ होउ' लोकाग्रे निवासी भूत्वा, लोकाग्रे निवासोऽस्यास्तीति मत्वा लोकाग्रगमने यत्नः कर्तव्यो भव्यजनैरिति भावः ॥७०॥

आगे सिद्धनिके लोकका अग्रभाग विषै तिष्ठनेका हेतु कहै है—

भा० व०—धर्मद्रव्यका अभावकू होत सतैं तिस सिद्धकै लोकाग्र जो सिद्धशिला तातैं अन्यत्र गमन नाही है। अर लोकाग्रनिवासी होय करि अनतकाल सिद्धालय विषैं तिष्ठै है। हो भव्य हो ? तुम भी लोकाग्र निवास होनेका यत्न करहु ॥७०॥

अब इसके पश्चात् वे सिद्ध परमात्मा सिद्धालयमे कितने काल तक रहते हैं, यह श्री देवसेनदेव प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्स सिद्धस्स) उस सिद्ध परमात्माका (धम्माभावे) धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे (परदो) लोकसे परे अलोकमे (गमण णत्थि त्ति) गमन नही है, इस कारण (लोयग्गणिवासिओ होउ) लोकाग्र निवासी होकर वहाँ (अणतकाल) अनत काल तक (अच्छइ) रहते है।

टीकार्थ—'परदो गमण णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स' इत्यादि गाथाका टीकाकार विवरण करते है—उस पूर्वोक्त सिद्ध जीवका परे अर्थात् लोकके अग्रभागसे आगे गमन नही है।

प्रश्न—क्यो गमन नही हैं ?

उत्तर—'धम्माभावे' अर्थात् धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे गमन नही है।

प्रश्न—तो फिर सिद्ध जीव क्या करते है ?

उत्तर—'अच्छइ अणतकाल' अर्थात् लोकाग्रमे वही अनन्तकाल तक रहते है।

प्रश्न—क्या करते हुए रहते हैं ?

उत्तर—लोकाग्रके अर्थात् सिद्धालयके निवासी होकर रहते हैं। लोकके अग्रभागमे जिसका निवास हो उसे लोकाग्रनिवासी कहते है।

ऐसा जानकर लोकाग्रमे जानेका यत्न भव्यजनोको करना चाहिए ॥७०॥

अथानन्तर मुक्तजीवस्वरूपविशेषव्याख्यान क्रियते श्रीदेवसेनदेवैरिति—

मूलगाथा—सते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा।
उड्ढगमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥७१॥

सस्कृतच्छाया—सत्यपिधर्मद्रव्येऽधो न गच्छति तथैव तिर्यक् वा।
ऊर्ध्वगमनस्वभावो मुक्तो जीवो भवेद् यस्मात् ॥७१॥

टीका—'सते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरिय वा' इत्यादि व्याख्यान करोति टीकाकारो मुनि । तद्यथा-धर्मद्रव्ये गमनहेतौ सति स सिद्ध सन् अधो न गच्छेत्, तथैव तिर्यग् न गच्छेन्नयातीति । कस्मात् ? 'उड्ढगमणसहावो मुक्को जीवो हवे जम्हा' यस्मात् कारणाद् ऊर्ध्वगतिस्वभावोऽय जीवो यदा कर्मभ्यो मुक्तो भवेत्तदोर्ध्वमेव गच्छति । अथवा यत. प्रदेशान्मुक्तो भवेत्ततोऽधस्तात्तिर्यग्वा न गच्छतीति भावार्थ. ॥७१॥

आगे ऊर्ध्वगमनका हेतु कहैं है—

भा० व०—धर्मद्रव्य गमनका हेतु होत सतै सो सिद्ध अधैं नाही गमन करै है, तैसैं तिरछा हू गमन नाही करै है। याही कारणतैं मुक्त जीव है सो ऊर्ध्वगमन स्वभाव होय है ॥७१॥

अब इससे अनन्तर श्री देवसेनदेव मुक्तजीवके स्वरूपका विशेष व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ—(मुक्को जीवो) कर्मोसे मुक्त हुआ जीव (धम्म दव्वे सते वि) धर्म द्रव्यके होने पर भी (अहो ण गच्छेइ) नीचे नही जाता है, (तह य तिरिय वा) उसी प्रकार तिरछा भी नही जाता है। (जम्हा) क्योकि मुक्त जीव (उड्ढगमणसहाओ) ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला (हवे) है।

टीकार्थ—'सते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरिय वा' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते है। यथा—गमनका हेतु धर्म द्रव्यके होने पर भी सिद्ध जीव न नीचे जाता है, उसी प्रकार न तिरछा जाता है।

प्रश्न—किस कारणसे ?

उत्तर—'उड्ढगमणसहावो मुक्को जीवो हवे जम्हा' अर्थात् जिस कारणसे कि यह जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है। जब यह कर्मोसे मुक्त होता है, तब नियमसे ऊपर ही जाता है। अथवा आकाश-प्रदेशसे मुक्त होता है, उससे नीचे या तिरछे नही जाता है (किन्तु ऊपर लोकाग्र तक ही जाता है।) यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७१॥

अथानन्तर मुक्तजीवाना संख्याज्ञाने शङ्कायां सत्यां श्रीदेवसेनदेवा आहुरिति—

मूलगाथा—असरीरा जीव घणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा ।
जम्मण-मरण-विमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ।।७२।।

संस्कृतच्छाया—अशरीरा जीवघनाश्चरमशरीरा भवन्ति किञ्चिदूना. ।
जन्म-मरण विमुक्ता नमामि सर्वान् पुनः सिद्धान् ।।७२।।

टीका—'अशरीरा जीवघणा' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकर्त्रा मुनिना । 'अशरीरा जीवा' द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहिता अमूर्ता सिद्धा ये जातास्ते कतिसख्योपेता ? घना बहवो जाता. । पुनश्च कथम्भूताः ? 'चरमसरीरा हवंति किंचूणा' किञ्चिदूनाकारा भवन्ति । कस्मात् ? चरमशरीरात्पूर्वभवगृहीतमनुष्यशरीराच्छकाशान्नूना भवन्ति मुखोदरकर्णघ्राणस्थानेषु रिक्ता भवन्तीति । पुन किंविशिष्टा ? 'जम्मण-मरण-विमुक्का' जन्म-मरण-विमुक्ता जन्म चोत्पत्तिः, मरणं च जन्ममरणे, ताभ्या विमुक्ता रहिता ये सिद्धा अर्थाज्जरयापि त्यक्ताः । 'णमामि सव्वे

बहुरि सिद्ध कैसे है ?

भा० व०—'अशरीरा जीवा' द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित अमूर्त ऐसे सिद्ध भये ते कितने हैं ? घने बहुत अनत ऐसे । बहुरि कैसे है सिद्ध ? किंचित् ऊन आकार होय है ? काहे तैं ऊन होय है ? चरम शरीरतैं । पूर्वभव गृहीत मनुष्य शरीरतैं न्यून होय है, मुख, उदर, कर्ण, घ्राण स्थान तिनि विषै रीता होय है । बहुरि कैसे होय है ? जन्म-मरण-रहित । ऐसे जे सिद्ध तिन सर्वनिकू नमस्कार करू हूँ । इहा टीकाकार ऐसा लिखा है—जो ससार-भीरु अमरसिंह, तू भी सिद्धनिकू नमस्कार करि । ऐसा आशय जानना ।।७२।।

अब इसके अनन्तर मुक्त जीवोकी सख्या सम्बन्धी ज्ञानमे शका होने पर उसका समाधान करते हुए श्री देवसेनदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुणो) पुन (सिद्धा जीवा) वे सिद्ध जीव (असरीरा) शरीर रहित है, (घणा) अर्थात् बहुत घने है, (किंचूणा) कुछ कम (चरम सरीरा) चरम शरीर प्रमाण हैं, (जन्म-मरण-विमुक्का) जन्म और मरण से रहित हैं। ऐसे (सव्वे सिद्धा) सर्व सिद्धोको (णमामि) मै नमस्कार करता हूँ ।

टीकार्थ—'असरीरा जीवघणा' इत्यादि गाथाके अर्थका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—'असरीरा जीवा' जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मसे रहित अमूर्त सिद्ध हो गये है, वे कितने है ? घन अर्थात् बहुत हैं—अनन्त हैं।

प्रश्न—पुन कैसे है ?

उत्तर—'चरमसरीरा हवंति किंचूणा' अर्थात् कुछ कम आकार वाले होते है ।

प्रश्न—किससे कुछ कम आकार वाले होते है ?

उत्तर—चरम शरीरसे । पूर्व भवमे ग्रहण किये गये मनुष्य-शरीरसे न्यून होते हैं, क्योकि वे मुख, उदर, कान और घ्राण स्थानोमे जो पोल होती है उससे रहित हो जाते हैं।

पुणो सिद्धा' पुनस्तानेव विधान् सर्वान् सिद्धान् नमामि नमस्करोमि, भावनमस्कारेण नमस्करोति सूत्रकर्त्ता। तथाऽहमपि वृत्तिकर्ता प्रणमामि सिद्धान् सिद्धस्वरूपास्तानिति भो ससारभीरो अमरसिंह ! त्वमपि नमस्कुरु मनसेति भाव. ॥७२॥

अथानन्तर श्रीदेवसेनदेवोऽस्य तत्त्वसारस्य कर्ता फलप्राप्तिपूर्वकमाशीर्वादं ब्रवीति—

मूलगाथा—ज अल्लीणा जीवा तरंति ससारसायरं विसमं ।
त भव्वजीवसरण णदउ सग-परगयं तच्चं ॥७३॥

सस्कृतच्छाया—यदालीना जीवास्तरन्ति ससारसागर विषमम् ।
तद्भव्यजीवशरण नन्दतु स्वक-परगत तत्त्वम् ॥७३॥

आगें तत्त्वको आशीर्वाद देते कहे है—

भा० व०—सो तत्त्व है सो 'नदतु' निर्विघ्न जैसैं होय तैसैं चिरकाल स्थायी, चिरकाल तिष्ठने वाला होहु। कैसा है तत्त्व ? स्वगत परगत ऐसा पूर्वे वर्णन कीया स्वरूप ! तत्त्वज्ञान-लालश रूप श्री अमरसिंह कह्या--भो भगवन् मुने, सो तत्त्व कहा स्वरूप ? या प्रकार कहै हैं मो तत्त्व कह्या स्वगत तत्त्व है स्वस्वरूप स्वात्मरूप, अर परगतरूप पचपरमेष्ठिस्वरूप, या प्रकार है। बहुरि कैसा है ? भव्यजीवनि कैं शरण ऐसा तत्त्व है। सो जा तत्त्वमे तल्लीन ऐसे जे भव्य-जीव जे हैं ते ससार सो ही भया सागर समुद्र ताकू तिरैं है। कैसा हैं ससार सागर ? विषम है ॥७३॥

प्रश्न—पुन वे सिद्ध कैसे है ?

उत्तर—'जम्मण-मरण-विमुक्का' अर्थात् जन्म-नवीन भवकी उत्पत्ति और मरण इन दोनोंसे विमुक्त-रहित हो जाते है। जन्म और मरणके मध्य होनेवाली जरा-वृद्धावस्थासे भी वे रहित हो जाते हैं।

'णमामि सव्वे पुणो सिद्धा' अर्थात् उक्त प्रकारके सर्वसिद्धोको मै पुन नमस्कार करता हूँ। जिस प्रकार सूत्रकार श्री देवसेन भाव नमस्कारसे सिद्धोको नमस्कार कर रहे है, उसी प्रकार मैं टीकाकार कमलकीर्ति भी उन सर्वसिद्धोको नमस्कार करता हूँ। तथा हे ससारभीरु अमरसिंह ! तुम भी उन सिद्धोको मनसे नमस्कार करो। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७२॥

अब इसके अनन्तर इस तत्त्वसारके कर्ता श्री देवसेनदेव फल-प्राप्ति-पूर्वक आशीर्वाद कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ज अल्लीणा) जिसमे तल्लीन हुए (जीवा) जीव (विसम) विषम (ससार-सायर) ससार समुद्रको (तरति) तिर जाते है (त) वह (भव्वजीवसरण) भव्य जीवोको शरणभूत (सग-परगय) स्व और परगत (तच्च) तत्त्व (णदउ) सदा वृद्धिको प्राप्त हो।

अथानन्तरमेवाचार्यश्रीदेवसेनदेवास्तत्त्वसाराराधनाफलमाविष्कुर्वन्तीति। तद्यथा—

मूलगाथा—सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥७४॥

संस्कृतच्छाया—श्रुत्वा तत्त्वसारं रचितं मुनिनाथ देवसेनेन।
यः सद् दृष्टिः भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ॥७४॥

टीका—'सोऊण तच्चसारं रइय मुणिणाहदेवसेणेण' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकारेण–'सोऊण' श्रुत्वा। कम्? 'तच्चसारं' तस्य भावस्तत्त्वं जीवादि, तस्य सारो रहस्यमस्ति तत्त्व-

---

आगे ग्रन्थकर्ता ग्रन्थकू समाप्त करता अपना नाम श्लेषालंकारकरि कहै हैं—

भा० व०—मुनिनिका नाथ देवसेन नाम आचार्य ताकरि, अथवा मुनिनिका नाथ होय सो तो मुनीनाथ कहिए देवसेन, 'दिवु क्रीडाया' दिवु धातु है सो क्रीडा अर्थ विषै प्रवर्तै है, अपने स्वरूप विषै रमै है, सो देव जानना। सेन — सा लक्ष्मी केवलज्ञानादि ताका इन कहिए स्वामी सेन। ऐसा जो देवसेन कहिए मुनिका नाथ देवसेन, ता करि रच्या जो तत्त्व जीवादिक सप्त तत्त्व तिनका सार रहस्य सो तत्त्वसार कहिए। सो तत्त्वसारकू सुनिकरि जो सम्यग्दृष्टि संशयादि-रहित समीचीन जो दृष्टि सो है विद्यमान जाकै सो सम्यग्दृष्टि कहिए, भावना करै है, अनुभवै है, सो ही सम्यग्दृष्टि शाश्वत सुख जो अतीन्द्रिय मोक्षसुखकू प्राप्त होय है ॥७४॥

दोहा

तत्त्वसारकी वचनिका भई भव्य सुखकार।
वाचै पढै तिनिकै सही हो है जय जयकार ॥१॥
वैशाख कृष्णा सप्तमी गुरूवार शुभ जान।
उगणीसै इकतीस मित संवत्सर शुभ मान ॥२॥
लिखी वचनिका मंदमति पन्नालाल सुजान।
भविजन याको सोधियो क्षमा करहु बुधिवान ॥३॥

इति श्री देवसेनाचार्यकृत तत्त्वसार प्राकृतपाठ ताकी वचनिका पन्नालाल चौधरी कृता समाप्ता।

अब इसके पश्चात् आचार्य श्री देवसेनदेव तत्त्वसारकी आराधना का फल प्रकट करते है—

अन्वयार्थ—(जो सद्दिट्ठी) जो सम्यग्दृष्टि (मुणिणाहदेवसेणेण) मुनिनाथ देवसेनके द्वारा (रइय) रचित (तच्चसार) इस तत्त्वसारको (सोऊण) सुनकर (भावइ) उसकी भावना करेगा, (सो) वह (सासय सोक्ख) शाश्वत सुखको (पावइ) पावेगा।

टीकार्थ—'सोऊण तच्चसार रइय मुणिणाह देवसेणेण' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—जीवादि तत्त्वका सार जो रहस्य है, उसे सुनकर जो उसकी भावना करता है।

ग्रन्थके टीकाकारकी प्रशस्ति

श्रीमन्माथुरगच्छ पुष्करगणे श्रीकाष्ठसघे मुनिः
सम्भूतो यतिसघनायकमणि श्रीक्षेमकीर्तिर्महान् ।
तत्पट्टाम्बरचन्द्रमा गुणगणी श्रीहेमकीर्तिर्गुरु
श्रीमत्संयमकीर्तिपूरितदिशापूरो गरीयानभूत् ॥६॥
अभवदमलकीर्तिस्तत्पदाम्भोजभानु—
र्मुनिगणनुतकीर्तिर्विश्वविख्यातकीर्तिः ।
शम-यम-दममूर्त्ति खण्डितारातिकीर्ति—
र्जगति कमलकीर्तिं प्राथितज्ञानमूर्ति ॥७॥

(इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्ति)

०

श्रीमान् माथुरगच्छ, और पुष्करगणमे श्री काष्ठासघके भीतर यति-सघके नायक-मणि श्री क्षेमकीर्ति नामके महामुनि हुए। उनके पट्टरूप गगनके चन्द्र, गुण-गणी श्री हेमकीर्ति गुरु हुए जिन्होने अपने गरिमावाले सयमकी कीर्तिसे सर्वदिशाओको पूरित कर दिया था ॥६॥

उनके चरण-कमलोको भानु-सदृश विकसित करने वाले, जिनकी निर्मल कीर्त्ति मुनिगणसे स्तुत एव विश्वविख्यात है, ऐसे शिष्य कमलकीर्त्ति हुए, जो शम, यम और दमकी मूर्त्ति है, शत्रुओकी कीर्त्तिको खण्डित करनेवाले हैं और जगतमे जो ज्ञानमूर्त्तिरूपसे प्रार्थना किये जाते है ॥७॥

(इति ग्रन्थकार प्रशस्ति)

०

तत्त्वसार भाषा

भाषा छन्दोबद्धकारका मंगलाचरण

दोहा

आदिसुखी अन्तःसुखी, शुद्ध सिद्ध भगवान् ।
निज प्रताप परताप विन, जगदर्पन जग आन ॥ १ ॥

ध्यान दहन विधि-काठ दहि, अमल शुद्ध लहि भाव ।
परम जोतिपद वंदिकैं, कहूँ तत्त्वकौ राव ॥ १ ॥

चौपाई

तत्त्व कहे नाना परकार, आचारज इस लोकमँझार ।
भविक जीव प्रतिबोधन काज, धर्मप्रवर्तन श्रीजिनराज ॥ २ ॥
आतमतत्त्व कह्यौ गणधार, स्वपरभेदतैं दोइ प्रकार ।
अपनौ जीव स्वतत्त्व बखानि, पर अरहत आदि जिय जानि ॥ ३ ॥
अरहतादिक अच्छर जेह, अरथ सहित ध्यावै धरि नेह ।
विविध प्रकार पुन्य उपजाय, परपराय होय सिवराय ॥ ४ ॥
आतमतत्त्वतने द्वै भेद, निरविकलप सविकलप निवेद ।
निरविकलप संवरकौ मूल, विकलप आस्रव यह जिय भूल ॥ ५ ॥
जहां न व्यापै विषय विकार, ह्वै मन अचल चपलता डार ।
सो अविकल्प कहावै तत्त, सोई आपरूप है सत्त ॥ ६ ॥
मन थिर होत विकल्पसमूह, नास होत न रहै कछु रूह ।
सुद्ध स्वभावविषै ह्वै लीन, सो अविकल्प अचल परवीन ॥ ७ ॥
सुद्धभाव आतम दृग ग्यान, चारित सुद्ध चेतनावान ।
इन्हैं आदि एकारथ वाच, इनमैं मगन होइकै राच ॥ ८ ॥
परिग्रह त्याग होय निरग्रन्थ, भजि अविकल्प तत्त्व सिवपथ ।
सार यही है और न कोय, जानै सुद्ध सुद्ध सो होय ॥ ९ ॥
अन्तर बाहिर परिग्रह जेह, मनवच तनसौं छांड़े नेह ।
सुद्धभाव धारक जब होय, यथा ग्यान मुनिपद है सोय ॥१०॥

जीवन मरन लाभ अरु हान, सुखद मित्र रिपु गनै समान ।
राग न रोष करै परकाज, ध्यान जोग सोई मुनिराज ॥११॥
काललबिधबल सम्यक बरै, नूतन बंध न कारज करै ।
पूरब उदै देह खिरि जाहि, जीवन मुकत भविक जगमाहि ॥१२॥
जैसै चरनरहित नर पग, चढ़न सकत गिरि मेरु उतंग ।
त्यौं बिन साधु ध्यान अभ्यास, चाहै करो करमकौ नास ॥१३॥
संकितचित्त सुमारग नाहिं, विषैलीन वांछा उरमाहिं ।
ऐसैं आप्त कहैं निरबान, पंचमकाल विषैं नहिं जान ॥१४॥
आतमग्यान दृग[1] चारितवान, आतम ध्याय लहै सुरथान ।
मनुज होय पावै निरबान, तातैं यहां मुकति मग जान ॥१५॥
यह उपदेस जानि रे जीव, करि इतनौ अभ्यास सदीव ।
रागादिक तजि आतम ध्याय, अटल होय सुख दुख मिटि जाय ॥१६॥
आप प्रमान प्रकास प्रमान, लोक प्रमान, सरीर समान ।
दरसन ग्यानवान परधान, परतैं आन आतमा जान ॥१७॥
राग विरोध मोह तजि वीर, तजि विकलप मन वचन सरीर ।
ह्वै निचिंत चिंता सब हारि, सुद्ध निरंजन आप निहारि ॥१८॥
क्रोध मान माया नहिं लोभ, लेस्या सल्य जहाँ नहिं सोभ ।
जन्म जरा मृतुको नहिं लेस, सो मैं सुद्ध निरंजन भेस ॥१९॥
बध उदै हिय लबधि न कोय, जीवथान सठान न होय ।
चौदह मारगना गुनथान, काल न कोय चेतना ठान ॥२०॥
फरस वरन रस सुर नहि गंध, वरग[2] वरगनौ[3] जास न खंध[4] ।
नहिं पुदगल नहिं जीवविभाव, सो मैं सुद्ध निरंजन राव ॥२१॥
विविध भाँति पुदगल परजाय, देह आदि भाषी जिनराय ।
चेतनकी कहियै व्योहार, निहचै भिन्न-भिन्न निरधार ॥२२॥
जैसैं एकमेक जल खीर, तैसैं आनौ जीव सरीर ।
मिलै एक पै जुदे त्रिकाल, तजै न कोऊ अपनी चाल ॥२३॥

---

१ सम्यग्दर्शन । २ समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्मपरमाणुको वर्ग कहते हैं ।
३ वर्गके समूहको वर्गणा कहते हैं । ४ स्कन्ध ।

थावर जंगम मित्र रिपु, देखै आप समान।
राग विरोध करै नहीं, सोई समतावान ॥३७॥
सब असंखपरदेसजुत, जनमै मरै न कोय।
गुणअनत चेतनमई, दिव्यदृष्टि धरि जोय ॥३८॥
निहचै रूप अभेद है, भेदरूप ब्योहार।
स्यादवाद मानै सदा, तजि रागादि विकार ॥३९॥
राग दोष कल्लोलबिन, जो मन जल थिर होय।
सो देखै निजरूपकौं, और न देखै कोय ॥४०॥
अमल सुथिर सरवर भयैं, दीसै रतनभण्डार।
त्यौं मन निरमल थिरविषैं, दीसै चेतन सार ॥४१॥
देखौं विमलसरूपकौं, इन्द्रियविषै विसार।
होय मुकति खिन आधमैं, तजि नरभौ अवतार ॥४२॥
ग्यानरूप निज आतमा, जड़सरूप पर मान।
जड़तजि चेतन ध्याइयै, सुद्धभाव सुखदान ॥४३॥
निरमल रत्नत्रय धरैं, सहित भाव वैराग।
चेतन लखि अनुभौ करैं, वीतरागपद जाग ॥४४॥
देखै जानै अनुमरै, आपविषैं जब आप।
निरमल रत्नत्रय तहां जहां न पुन्य न पाप ॥४५॥
थिर समाधि वैरागजुत, होय न ध्यावै आप।
भागहीन कैसैं करै, रतन विसुद्ध मिलाप ॥४६॥
विषयसुखनमैं मगन जो, लहै न सुद्ध विचार।
ध्यानवान विषयनि तजै लहै तत्त्व अविकार ॥४७॥
अथिर अचेतन जड़मई, देह महादुखदान।
जो यासौं ममता करै, सो बहिरातम जान ॥४८॥
सरै परै आमय[2] धरै, जरै मरै तन एह।
हरि ममता समता करै, सो न धरै पन[1]-देह ॥४९॥
पापउदैकौं माधि, तप, करै विविध परकार।
सो आवै जो सहज ही, बड़ौ लाभ है सार ॥५०॥

---

१ पन अर्थात् शरीरादि पुद्गल। २ रोग।

भाषा छन्दकारकी प्रार्थना

सम्यकदरसन ग्यान, चारित सिवकारन कहै।
नय व्यवहार प्रमान, निहचै तिहूँमें आतमा ॥७५॥
लाख बातकी बात, कोटि ग्रन्थको सार है।
जो सुख चाहौ भ्रात, तो आतम अनुभौ करौ ॥७६॥
लीजो पंच सुधारि, अरथ छंद अच्छर अमिल।
मो मति तुच्छ निहारि, छिमा धारियो उरविषै ॥७७॥
द्यानत तत्त्व जु सात, सार सकलमें आतमा।
ग्रन्थ अर्थ यह भ्रात, देखो जानो अनुभवो ॥७८॥

इति तत्त्वसार



संस्कृत टीकागत अवतरण गाथादि अनुक्रमणिका

टीकागत-ग्रन्थ-नाम सूची

एकत्वसप्तति	गा० ५८ टीका
तत्त्वार्थवृत्ति	गा० ५४ टीका
त्रैलोक्यदीपक	गा० ६० टीका



टीकाकार-रचित श्लोक सूची

		श्लोक			श्लोक
अभवदमलकीर्त्ति	प्रशस्ति	७	यावन्मेरु-मही-स्वर्ग	प्रशस्ति	४
इति कतिपयवर्ण	"	३	रत्नत्रयात्मकं मुनिसंघ	पर्व ५ प्रारम्भ	१
इति तत्त्व स्व-परगत प्रोक्त	"	२	श्रीमन्माथुरगच्छ	प्रशस्ति	६
गुरूणा पादपद्म च	मंगलाचरण	३	श्रीशुद्धभावोऽपरसिद्धिकं	पर्व २ प्रारम्भ	१
ग्रन्थेऽस्मिन् भावनारूपे	प्रशस्ति	१	सर्वज्ञभावसंसिद्धि	पर्व ८ प्रारम्भ	१
जिनमतमतसार	पर्व ४ प्रारभ	१	सर्वविद् हितवद्-वक्त्र	मंगलाचरण	२
पुन श्रीगौतमादीना	मंगलाचरण	४	सिद्धा सिद्धि प्रदास्ते स्यु	प्रशस्ति	५
यज्ज्ञान विश्वभावार्थ	"	१	स्वगततत्त्वमिद शिवसौख्यद	पर्व ३ प्रारम्भ	१



टीका-गत-विशिष्ट-नाम-सूची

अमरसिंह	पर्व २ / गाथा ७३	श्लोक १ / टीका	शिवकुमार	गाथा ७३	टीका
			श्रीपूज्यपाददेव	गाथा ५४	टीका
अमलकीर्त्ति	प्रशस्ति	श्लोक ७	संयमकीर्त्ति	प्रशस्ति	श्लोक ६
क्षेमकीर्त्ति	"	श्लोक ६	हेमकीर्ति	"	श्लोक ६
लक्ष्मण	गाथा ७३	टीका			



પાણીના ન્યાયની જેમ પોતપોતાના સ્વભાવમા રહીને એમનો
 નો) મેળાપ-સબંધ એક જેવો જાણવા યોગ્ય છે ૨૩

પુરુષ તર્કબુદ્ધિથી પાણી અને દૂધને ભિન્ન-ભિન્ન સ્વભાવવાળા જાણી
પુરુષ પણ ઉત્તમ ધ્યાન વડે જીવ અને અજીવનો ભેદ (ચેતન-
સ્વભાવ) જાણી લે છે ૨૪

કરીને પુદ્ગલ અને જીવનો તથા કર્મોનો ભેદ કરો (પુદ્ગલ તથા
એવો–) સિદ્ધસ્વભાવી પરબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા ગ્રહણ કરવા

મા જેવા સર્વમલરહિત જ્ઞાનસ્વરૂપી સિદ્ધ ભગવાન બિરાજમાન છે,
બિરાજમાન પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા જાણવો જોઈએ ૨૬

ભગવાન દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મ અને નોકર્મથી રહિત છે, કેવલજ્ઞાનાદિ
તે જ હુ સિદ્ધ છુ, શુદ્ધ છુ, નિત્ય છુ, એક છુ અને નિરાલબી છુ. ૨૭

છુ, શુદ્ધ છુ, અનતજ્ઞાનાનિ ગુણોથી સમૃદ્ધ છુ, દેહ-પ્રમાણ છુ.
દેશી છુ અને અમૂર્ત છુ, (એવી ભાવના કરવી) ૨૮

કલ્પો બધ થઈ ગયા પછી અને ઇન્દ્રિય વિષયોના વ્યાપાર રોકાઈ
ને ધ્યાનવડે પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ એવો આત્મા પ્રગટ થઈ જાય છે

મનનુ ભ્રમણ અને પાચે ઇન્દ્રિયોના વિષયોની ઇચ્છાઓ મદ થતી
ત્મા આત્માને (–પોતાના શુદ્ધસ્વરૂપને) પ્રગટ કરતા જાય છે.
। ૩૦

ન વચન કાયાના યોગો જો નિર્વિકારભાવને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે તો
મસ્વરૂપને પ્રગટ કરી લે છે ૩૧

કાયાના યોગો રોકાઈ જવાથી યોગીને નિશ્ચયથી કર્મનો આસ્રવ
ચિરકાળના બાધેલા કર્મો ફળ આપ્યા વિના સ્વય નિર્જરી જાય છે ૩૨

મન પર પદાર્થોમા વિહ્વળ છે (આસક્ત છે) ત્યા સુધી ઘોર
ભવ્યજીવ મોક્ષને પામી શકતો નથી પરતુ શુદ્ધ ભાવોમા રત
મોક્ષને પામે છે ૩૩

પરદ્રવ્યો (આત્માથી ભિન્ન) છે જ્યા સુધી (જીવ) તેના પર
... (પરપદાર્થમા આસક્ત એવો) છે,



શ્રી દેવસેનાચાર્ય–વિરચિત

તત્ત્વસાર

(બ્રા. બ્ર. શ્રી હિંમતભાઈ ચીનુભાઈ શાહ (માંડળવાળા) કૃત ગુજરાતી ભાષાંતર)

(૧) આત્મધ્યાનરૂપ અગ્નિવડે જ્ઞાનાવરણાદિ સર્વ કર્મોને ભસ્મ કરનાર તથા પોતાના વીતરાગ પરમ–શુદ્ધસ્વભાવને પ્રાપ્ત કરનાર એવા સિદ્ધ પરમાત્માઓને નમસ્કાર કરીને (હું દેવસેનાચાર્ય) સુંદર 'તત્ત્વસાર'ને કહીશ ૧

(૨) આ લોકમા પૂર્વે થયેલા આચાર્યોએ ધર્મની પ્રવૃત્તિ કરવા માટે અને ભવ્ય-જીવોને સમજાવવા માટે બહુ ભેદરૂપે તત્ત્વને કહ્યુ છે ૨

(૩) વળી એક સ્વગત-તત્ત્વ છે તથા બીજુ પરગત-તત્ત્વ કહેવામા આવ્યુ છે સ્વગત-તત્ત્વ એ પોતાનો આત્મા છે, બીજુ પરગત તત્ત્વ પાચેય પરમેષ્ઠી છે ૩

(૪) તે પચપરમેષ્ઠીઓના વાચક અક્ષરરૂપ મત્રોનુ ધ્યાન કરવાથી ભવ્ય મનુષ્યોને બહુ અધિક પુણ્ય બધાય છે, અને પરમ્પરાથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે ૪

(૫) ફરી જે સ્વગત તત્ત્વ છે, તે સવિકલ્પ તથા અવિકલ્પના ભેદથી બે પ્રકારનુ છે સવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ આસ્રવસહિત છે, તથા નિર્વિકલ્પ સ્વતત્ત્વ આસ્રવરહિત છે ૫

(૬) જ્યારે ઇન્દ્રિયોના વિષયોની ઇચ્છાઓ વિરામ પામી જાય છે, ત્યારે મનના વિચાર રહેતા નથી (સકલ્પ-વિકલ્પ બધ થાય છે), તે સમયે અવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ પ્રગટ થાય છે, અને આ આત્મા સ્વભાવમા તન્મય હોય છે ૬

(૭) જ્યારે પોતાનુ મન નિશ્ચળ થાય છે અને સર્વ ભેદરૂપ વિચારોના વિકલ્પસમૂહ નાશ પામે છે, ત્યારે વિકલ્પરહિત, અભેદ નિશ્ચલ, નિત્ય, આત્માનો શુદ્ધ સ્વભાવ સ્થિર થાય છે ૭

(૮) નિશ્ચયથી જે આત્માનો શુદ્ધ વીતરાગભાવ છે, તે જ આત્મા છે, તેને સમ્યક્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્ર પણ કહેવાય છે, અથવા તે શુદ્ધ ચેતનારૂપ છે ૮

(૯) જે આ અવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ છે તે જ સાર છે, તે જ મોક્ષનુ કારણ છે તે શુદ્ધ તત્ત્વને સમ્યક્પ્રકારે જાણીને, નિર્ગ્રન્થ બનીને (તેનુ) ધ્યાન કરો ૯

(૧૦) આ લોકમા જેણે મન વચન કાય એ ત્રણે યોગોથી બાહ્યાતર પરિગ્રહોને ત્યાગી દીધા છે તે જિનેન્દ્રના વેષને ધારણ કરનારા શ્રમણ અથવા નિર્ગ્રથમુનિ કહેવાય છે. ૧૦

(૧૧) જે, લાભ તથા અલાભમા, સુખ તથા દુખમા, તે જ પ્રમાણે જીવન તથા

(૨૩) દૂધ અને પાણીના ન્યાયની જેમ પોતપોતાના સ્વભાવમાં રહીને એમનો (જીવ અને કર્મ-નોકર્મનો) મેળાપ-સબંધ એક જેવો જાણવા યોગ્ય છે. ૨૩

(૨૪) જેમ કોઈ પુરુષ તર્કબુદ્ધિથી પાણી અને દૂધને ભિન્ન-ભિન્ન સ્વભાવવાળા જાણી લે છે. તેમ સમ્યગ્જ્ઞાની પુરુષ પણ ઉત્તમ ધ્યાન વડે જીવ અને અજીવનો ભેદ (ચેતન-અચેતનનો ભિન્ન-ભિન્ન સ્વભાવ) જાણી લે છે. ૨૪

(૨૫) ધ્યાન વડે કરીને પુદ્ગલ અને જીવનો તથા કર્મોનો ભેદ કરો. (પુદ્ગલ તથા કર્મ-નોકર્મથી ભિન્ન એવો—) સિદ્ધસ્વભાવી પરબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય છે ૨૫

(૨૬) સિદ્ધગતિમાં જેવા સર્વમલરહિત જ્ઞાનસ્વરૂપી સિદ્ધ ભગવાન બિરાજમાન છે. તેવો જ દેહની અદર બિરાજમાન પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા જાણવો જોઈએ ૨૬

(૨૭) જે સિદ્ધભગવાન દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મ અને નોકર્મથી રહિત છે, કેવલજ્ઞાનાદિ અનતગુણોથી પૂર્ણ છે તે જ હું સિદ્ધ છું. શુદ્ધ છુ. નિત્ય છું. એક છુ અને નિરાવલબી છુ. ૨૭

(૨૮) હુ સિદ્ધ છુ. શુદ્ધ છુ. અનતજ્ઞાનાનિ ગુણોથી સમૃદ્ધ છું. દેહ-પ્રમાણ છું. નિત્ય છુ. અસખ્યાતપ્રદેશી છુ અને અમૂર્ત છું. (એવી ભાવના કરવી) ૨૮

(૨૯) મનના સકલ્પો બધ થઈ ગયા પછી અને ઇન્દ્રિય વિષયોના વ્યાપાર રોકાઈ ગયા પછી, યોગીઓને ધ્યાનવડે પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ એવો આત્મા પ્રગટ થઈ જાય છે (પ્રગટે છે) ૨૯

(૩૦) જેમ જેમ મનનુ ભ્રમણ અને પાચે ઇન્દ્રિયોના વિષયોની ઇચ્છાઓ મદ થતી જાય છે, તેમ તેમ આત્મા આત્માને (—પોતાના શુદ્ધસ્વરૂપને) પ્રગટ કરતો જાય છે. આકાશમાં સૂર્યની જેમ. ૩૦

(૩૧) યતિના મન-વચન કાયાના યોગો જો નિર્વિકારભાવને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે. તો આત્મા પોતાના પરમાત્મસ્વરૂપને પ્રગટ કરી લે છે ૩૧

(૩૨) મન વચન-કાયાના યોગો રોકાઈ જવાથી યોગીને નિશ્ચયથી કર્મનો આસ્રવ રોકાઈ જાય છે, તથા ચિરકાળના બાધેલાં કર્મો ફળ આપ્યા વિના સ્વય નિર્જરી જાય છે ૩૨

(૩૩) જ્યા સુધી મન પર પદાર્થોમાં વિહ્વળ છે (આસક્ત છે). ત્યા સુધી ઘોર તપશ્ચર્યા કરતા છતા પણ ભવ્યજીવ મોક્ષને પામી શકતો નથી. પરતુ શુદ્ધ ભાવોમાં રત (લીન) થવાથી શીઘ્ર જ મોક્ષને પામે છે. ૩૩

(૩૪) દેહાદિ સર્વ પરદ્રવ્યો (આત્માથી ભિન્ન) છે જ્યાં સુધી (જીવ) તેના પર મમત્વ (રાગ દ્વેષ-મોહ) કરે છે. ત્યાં સુધી તે પરસમયરત (પરપદાર્થમાં આસક્ત એવો) છે. તેથી નાના પ્રકારના કર્મોને બાધે છે ૩૪

(૬૯) (સિદ્ધ પરમાત્મા) ઇન્દ્રિયોના ક્રમથી રહિત, એકી સાથે સર્વ લોકાલોકને તથા અનંત પર્યાય અને ગુણુથી સંયુક્ત એવા સર્વ મૂર્ત્ત-અમૂર્ત્ત દ્રવ્યોને જાણે છે અને દેખે છે ૬૯

(૭૦) (અલોકમા) ધર્મદ્રવ્યનો અભાવ હોવાથી તે સિદ્ધપરમાત્માનુ લોકથી આગળ અલોકમાં ગમન થતું નથી, તેથી તેઓ લોકાગ્રનિવાસી થઈ ત્યા અનંતકાળ બિરાજમાન રહે છે ૭૦

(૭૧) મુક્તજીવ ઊર્ધ્વગમન-સ્વભાવી હોય છે, તે માટે ધર્મદ્રવ્ય હોવા છતા તે (મુક્તજીવ) નીચે અથવા તીરછે જતા નથી ૭૧

(૭૨) વળી શરીરથી રહિત. અનંત, ચરમશરીરથી કિંચિત્ ઓછા આકારવાળા. જન્મ તથા મરણુથી વિમુક્ત એવા સર્વ સિદ્ધોને હુ (દેવસેનાચાર્ય) નમસ્કાર કરું છું ૭૨

(૭૩) જે તત્ત્વમાં લીન બનીને જીવો ભયાનક સંસારરૂપી સમુદ્રને તરી જાય છે, તે ભવ્યજીવોને શરણુભૂત સ્વગત અને પરગત તત્ત્વ સદા વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થાઓ, જયવંત વર્તો! ૭૩

(૭૪) મુનિનાથ શ્રી દેવસેનાચાર્ય-રચિત આ 'તત્ત્વસાર'ને સાભળીને જે કોઈ સમ્યગ્દૃષ્ટિ જીવ તેની ભાવના કરે છે, તે અવિનાશી સુખને પામે છે ૭૪